कुमार मुकुल

जन्म : 1966 आरा , बिहार के संदेश थाने के तीर्थकौल गांव में।

शिक्षा : एमए, राजनीति वि... अमान वूमेन्स कॉलेज, ... पटना में अध्यापन से आर... बाद अबतक दर्जन भर पत्र-पत्रिकाओं अमर उजाला, पाटलिपुत्र टाइम्स , प्रभात खबर आदि में संवाददाता , उपसम्पादक और सम्पादकीय प्रभारी व फीचर सम्पादक के रूप में कार्य।

कृतियाँ : 2000 में 'परिदृश्य के भीतर' और 2006 में 'ग्यारह सितम्वर और अन्य कविताएं' (कविता संग्रह) प्रकाशित। 2012 में 'डॉ. लोहिया और उनका जीवन दर्शन' (विचार) प्रकाशित। कैंसर पर एक किताब शीघ्र प्रकाश्य। देश की तमाम हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में कविता, कहानी, समीक्षा और आलेखों का नियमित प्रकाशन।

कालम : दैनिक अमर उजाला में 1997 - 1999 के बीच साप्ताहिक कालम 'विहार : तंत्र जारी है' का लेखन।

सम्पादन : 2005 से 2007 के बीच द्वैमासिक साहित्यिक लघु पत्रिका 'सम्प्रति पथ' का दो वर्षों तक सम्पादन। 2007 से 2010 तक त्रैमासिक 'मनोवेद' में कार्यकारी सम्पादक।

सम्मान : 2000 में 'परिदृश्य के भीतर' के

अँधेरे में कविता के रंग

कुमार मुकुल

प्रिय कुम[illegible]ुल जी,

[illegible]की आलोचना पुस्तक [illegible] पांडुलिपि [illegible] रहा हूं। आपने इसे [illegible] का अवसर मुझे दिया यह मेरी खुशकिस्म[illegible] है। मुझे लगता है कि जब यह पुस्तक रूप में आयेगी तो हिंदी संसार में व्यापक स्तर पर इसका स्वागत होगा। दलबद्धता या शिविरबद्धता से दूर, मुक्त हृदय और पैनी दृष्टि से कवि के संसार में उतरने का यह सामर्थ्य किसी को भी प्रभावित करेगा। एक गहरी अन्तरदृष्टि की विना पर आप बिना लाग-लपेट बड़ी तीक्ष्णता और स्पष्टता के साथ अपनी बात कहते हैं और यह आलोचना का साहस है। इस साहस में एक गहरी सहृदयता भी मुझे दिखाई दे रही है। हमलोग एक ऐसे दौर में हैं जब वरिष्ठों के भी कथन की विश्वसनीयता आज संदिग्ध हुई है लेकिन इस बुरे समय में अच्छी आलोचना के गुण ही हमारे सारे लिखने-पढ़ने के कार्य को एक सार्थकता दे सकते हैं। मुझे आपकी इस आलोचना पुस्तक को पढ़ते हुए सचमुच आनंद आया है। आप मित्र हैं इसलिए यह नहीं कह रहा हूं। साहित्य में यूं भी मित्रताओं का यह बहुत विश्वसनीय समय नहीं रह गया है। गणित ज्यादा महत्वपूर्ण हो गये हैं।

आपको पुनः एक बार बधाई। इसे जल्दी से जल्दी किसी अच्छे प्रकाशक से छपवा लें ताकि यह आम पाठकों तक भी सही तरीके से पहुंच जाये।

आशा है आप सानंद होंगे।

आपका

–विजय कुमार

अँधेरे में कविता के रंग

कुमार मुकुल

अ

अद्वैत प्रकाशन

प्रकाशक : अद्वैत प्रकाशन
ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा
दिल्ली-110032

सर्वाधिकार : कुमार मुकुल

प्रथम संस्करण : 2014

आईएसबीएन : 978-93-82554-38-7

मूल्य : ₹ 350/-

शब्द-संयोजन : कम्प्यूटेक सिस्टम, दिल्ली-110032

मुद्रक : कॉम्पैक्ट प्रिंटर्स, दिल्ली-110032

ANDHERE MEIN KAVITA KE RANG
by Kumar Mukul

सप्ताहांत में सुबह की सैर के साथी,
अग्रज कवि ***लीलाधर मंडलोई***
आत्मीय अग्रज कवि ***पंकज सिंह***
मेरी कविताओं में लोकोन्मुखता के प्रशंसक,
अब-तक अदेखे ***अरविन्द त्रिपाठी***
जीवन और रचना में एकात्मता पर बल देनेवाले अग्रज
मदन कश्यप, महाप्रकाश, कर्मेंदु शिशिर,
प्रेमकुमार मणि, श्रीकांत
को सादर

हरदिल अजीज पत्रकार व आत्मीय ***अजय कुमार***
चिर असहयोगिनी, प्यारी व कर्मठ **आभा**
अपने आत्मीय रचनाकार साथियों
संतोष सहर, राजूरंजन प्रसाद, सुधीर सुमन,
सपना चमड़िया, कुमार वीरेंद्र
धर्मेन्द्र सुशांत, अच्युतानंद मिश्र, रणेन्द्र, रामजी यादव, पंकज चौधरी,
पंकज पराशर, अजय प्रकाश, धर्मेन्द्र श्रीवास्तव, अंजनी कुमार,
नवीन, खालिद *प्यारे भगिने, भगिनियों* ***गुलशन, रानी, अमन, आदिति***
व अनन्य आत्मीय ***अरुणा राय***
को सस्नेह

जिस तरह मैं सोचता हूँ...

मेरी दुनिया

उन्नीस सौ पचासी के आस-पास प्राध्यापक पिता की मेज पर जो किताबें पड़ी रहती थीं, उनमें 'कविता के नए प्रतिमान', 'निराला की साहित्य साधना', 'भूरी-भूरी खाक धूल' शामिल थीं, जिन्हें मैं अक्सर पलटता रहता। रामचरित मानस, चक्रवाल और गीता तो पिता बचपन से रटा ही रहे थे। महाभारत मैं अपनी रुचि से पढ़ा करता था। कुमार विमल की सौंदर्यशास्त्र पर शोध-पुस्तक भी मैं काफी रुचि लेकर पढ़ता था। नामवर सिंह की किताब के कवितांशों को मैं अक्सर बार-बार पढ़ता, फिर उनके आस-पास की पंक्तियाँ उनके समझने की दृष्टि से देखता था। निराला की कविता से ज्यादा उनके जीवन ने मुझे प्रभावित किया, तो इसके पीछे रामविलास शर्मा की पुस्तक की भूमिका ही बनती है। इसी आस-पास मैथिली के कवि महाप्रकाश और शिवेंद्र दास के साथ घुमक्कड़ी और बैठकी आरंभ हो चुकी थी। इनकी संगत में मैंने कविता और आलोचना की बारहखड़ी सीखी। महाप्रकाश ने काव्याकाश के नक्षत्रों की पहचान सिखाई, तो श्री दास ने भाषा के समुद्र की लहरों से मुठभेड़ की जमीन तैयार की। इसी समय मुक्तिबोध की समग्र रचनावली आई, तो अपने छोटे बहनोई से पैसे ले मैंने उसे खरीदा और अब देखता हूँ कि वह मेरी आलोचनात्मक समझदारी को आधार देती आज भी मेरे साथ है। कविता, कहानी या आलोचना हो, सब में मुक्तिबोध अपने समय की जहालतों से निर्णायक ढंग से जूझते नजर आते हैं। मुक्तिबोध के बाद शमशेर के गद्य ने मुझे काफी प्रभावित किया। खासकर साक्षात्कार के विशेषांक में कवियों पर लिखे गए उनके लंबे लेख ने। रघुवीर सहाय की जटिल जीवन-स्थितियों को प्रकाशित करने वाली भाषा ने भी मुझे आकर्षित किया।

अब तक कविता की लौ लग चुकी थी और मिथिलांचल के छोटे से शहर सहरसा में, जो और जितना मैंने भाषा की बाबत सीखा वैसा फिर आगे पटना और दिल्ली में नहीं पा सका। राजकमल चौधरी यहीं के थे और उनकी कविता से ज्यादा उनके उपन्यासों का तिलस्म मुझे खींचता था। मैंने पहला लेख राजकमल पर ही लिखा, जिसे महाप्रकाश ने उस समय पटना से निकल रहे एक साप्ताहिक 'जनादेश', जिसे

मणिकांत ठाकुर निकालते थे, में छपवाया। मेरी किशोर वय की कविताओं की दो पुस्तिकाएँ उसी दौरान पिता ने छपवाई। जिनमें पहले 'समुद्र के आँसू' पर प्रभाकर माचवे ने प्रकाशनार्थ सम्मति भी लिख भेजी थी। मेरी प्रूफ की भूलें और अन्य सलाहतें उन्होंने अलग से लिख दी थीं। पर उस छोटे से शहर में अखबार थे नहीं, जिनमें मैं उन्हें छपवाता और पटना के अखबारों तक मेरी पहुँच नहीं थी। आज की तरह वह प्रायोजन का दौर भी नहीं था, छपने-छपवाने का और कवि होने के लिए संग्रह की समीक्षाएँ करवाने का तब कोई क्रेज नहीं था। तो पहली पुस्तिका पर एकमात्र समीक्षा उस समय पटना के 'दैनिक हिन्दुस्तान' में मुकेश प्रत्यूष ने लिखी थी। मध्यप्रदेश प्रलेस के अध्यक्ष व कवि रामविलास शर्मा भी उस समय बड़ी सहृदयता से मेरे पत्रों का जवाब देते थे। बहुत दिनों तक मैं उन्हें आलोचक रामविलास शर्मा समझता मन ही मन फूला फिरता रहा। मेरी दूसरी पुस्तिका पर उन्होंने ही सम्मति लिखी थी।

इसी समय मैं मिथिलांचल के उस छोटे से शहर सहरसा को छोड़ राजधानी पटना आ गया। यहाँ लेखकों से मिलने के लिए पहली बार एक सायकिल खरीदी। उस समय आलोचना में प्रतिष्ठा पा रहे भृगुनंदन त्रिपाठी का साथ मिला वर्षों का। उनके साथ रात दस-ग्यारह बजे तक सड़कों पर घूमता उस समय के रचना परिदृश्य पर लगातार बातें करता। देखा जाए तो मेरी समझ को उन्होंने अपने तईं काफी दुरुस्त किया और मुझसे काफी कुछ लिखवाया और अनुवाद करवाया। रघुवीर सहाय पर मेरे दोनों आलेख उनके साथ की गई बहसों का ही नतीजा हैं। इस लेख की बावत मैंने केदारनाथ सिंह को पत्र भी लिखा था। आगे एक जलसे में पटना में शिरकत करने आए नामवर सिंह, केदारनाथ सिंह आदि से उस लेख पर बातें भी हुई थीं। नब्बे के आस-पास होटल की उस बातचीत में नवल जी, गोपेश्वर सिंह, निलय, अपूर्वानंद आदि कई लोग थे। उस समय नंदकिशोर नवल से भी जब-तब बातें होती थीं, पर अक्सर वे किसी तीखे मोड़ पर जा पहुँचती थीं। मिलने पर अब भी उनसे घंटों बातें होती हैं। खुद को जब्त कर उनके नागार्जुन, त्रिलोचन, शमशेर आदि के विपुल संस्मरणों को सुनना अच्छा लगता है।

पटना आने पर पहली बार मुझे साहित्य में प्रायोजन की महती भूमिका देखने को मिली। कुछ भी सहज नहीं था। सहरसा से ही 'पहल' मैं पढ़ता आ रहा था पर मैंने पाया कि वह भी इससे मुक्त नहीं है। राजनीति की तरह साहित्य में भी सलाहकारों की जबरदस्त पैठ थी। अपने आँचलिक लेखन को लेकर चर्चा में रहे विजयकांत ने पहली ही मुलाकात में ज्ञानरंजन का पत्र दिखाते अपनी किताब 'ब्रह्मफांस' पर समीक्षा लिखने को प्रेरित किया। समीक्षा पहल में स्वीकृत भी हुई और ज्ञान जी ने अंक छियालिस या सैंतालिस में छापने की सूचना पत्र लिखकर दी। पर वह नहीं छपी। इसके अरसे बाद अनठानबे में फिर जब मैंने विष्णु खरे की कविताओं पर लिखा तो ज्ञानरंजन ने उसे दिलचस्प पाते हुए आगे के लिए स्वीकृत किया। आगे उस लेख की प्रति खो

जाने की बात कह फिर से वह आलेख मँगवाया और छाप नहीं पाए। लेखन के उस आरंभिक दौर में 'पहल' जैसी पत्रिका में छपना महत्त्वपूर्ण था, एक नवतुरिया कवि, समीक्षक के लिए। पर संपादकों के इस रवैये ने मुझे विचलित किया। खैर, वह लेख 'समकालीन कविता' में जब छपा तो राजेश जोशी और रमेशचंद्र शाह के पत्रों ने मेरे काव्य-विवेक को धैर्य प्रदान किया। राजेश जोशी ने लिखा– "...ने विष्णु खरे पर विचार करते हुए मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय के जिस फर्क को रेखांकित किया है, वह विचारणीय है।..." रमेशचंद्र शाह ने लिखा– "...पढ़ना सुखद आश्चर्य था कि कविता को कैसे पढ़ना, क्यों पढ़ना यह उसे आता है और अपने पढ़े हुए से पढ़ने के दूसरे अनुभवों से, इस पढ़ना को जोड़ना भी सार्थक ढंग से। अलग बात है कि 'क्या' पढ़ा? उससे हम सहमत हों, न हों– दोनों ही हालात में समीक्षक की तैयारी पर, खरे पर शक नहीं होता। मुक्तिबोध को सही जगहों पर याद किया गया है।..."

आरंभ से ही प्रायोजन पसंद ना होने के कारण मैंने उससे लड़ने की मंशा से समीक्षा को एक हथियार के तौर पर विकसित किया। फिर मुक्तिबोध के बाद गद्य-लेखन एक कवि के लिए मुझे जरूरी शर्त की तरह लगने लगा। छपने की राजनीति ने मुझे हमेशा किनारे करने की कोशिश की, पर लिखकर रखते जाने की आदत कभी छूटी नहीं। फिर भी पत्रकारिता के पेशे के कारण कभी-कभार चीजें आ ही जाती थीं, जहाँ-तहाँ। और मेरा लिखना जारी रखने को यह काफी था।

पटना, प्रभात खबर में काम करते मिथिलेश जी का साथ रहा। कविता पर उनकी आलोचनात्मक समझ देख मुझे हमेशा आश्चर्य होता। ज्ञानरंजन ने अपने एक पत्र में लिखा भी था– 'मिथिलेश जी का उल्लेख करके आपने हमें विचलित किया है। वे बहुत ही प्रतिभाशाली और खूबसूरत इन्सान हैं। काश वे लिखते रहते।' पर उन्होंने कभी लिखा नहीं। मुझे लगता है, मेरे माध्यम से वे भी लिख रहे हैं। 'दुःख तंत्र' में कमला दासी की कविताओं को लेकर बोधिसत्व ने सही लिखा है कि कविताओं में कमला की त्रासदी है, वे तो लिखिया मात्र हैं। महाप्रकाश और मिथिलेशजी जैसे लोगों से मिलकर हमेशा लगता है कि मैं तो लिखिया मात्र हूँ। मैं तो बस उस राह पर चला जा रहा हूँ, जिधर उन्होंने इशारा किया था।

दिल्ली तो पारिवारिक संकट में आना पड़ा और यहाँ भी लोग उसी तरह मिले, अच्छे और उत्साही जैसे सहरसा और पटना में थे। पड़ोस में ही लीलाधर मंडलोई मिले, जिनका अक्सर सुबह की सैर में साथ होता और घूमते हुए बातें होतीं– मार दुनिया-जहान की। गुमटी पर चाय पीना और फिर घर की चाय और दिल्ली का समय हो जाता। बातें करने का उनका सूफियाना अंदाज मुझे हमेशा अच्छा लगता। विष्णु खरे से जब पटना से मिलने आता था, तो घंटों बातें होतीं, पर जब से यहाँ आया एक बैठकी के बाद उनको समयाभाव ही रहा। विष्णु नागर अपनी कविताओं की तरह सरलता से बातें करते हैं। मंगलेश जी से जब-तब बातें होती हैं थोड़ी बहुत।

पंकज बिष्ट से बातें अक्सर बहस की मुद्रा अख्तियार कर लेती हैं और यह अच्छा ही है। हमउम्रों में आई चेतन क्रांति को हमेशा अपने साथ पाया मैंने।

रचना-प्रक्रिया

लीलाधर मंडलोई, विजय कुमार, अच्युतानंद, धर्मेन्द्र सुशांत, नवीन, राजीव आदि अग्रज व अनुज रचनाकारों ने इन आलेखों पर विचार करते एक बात कही कि इसमें भूमिका जैसा कुछ लिखकर मैं बतलाऊँ कि मेरे लिए कविता के मायने क्या हैं, कि मेरा नजरिया क्या है पिछले दशकों में हुए बड़े परिवर्तनों को लेकर।

इस साल देवीशंकर अवस्थी सम्मान के वक्त समीक्षा और आलोचना लिखने के अपने कारणों पर विचार करते विष्णु खरे ने कहा था कि जब कोई कवि मुझे कुपित करता है तब मैं उस पर लिखने का मन बनाता हूँ, ऐसे ही जब कोई रचना मुझे आनंदित करती है तब भी होता है। अपने लेखन के संदर्भों में मैं भी ऐसा ही पाता हूँ। हाँ, कुपित की जगह मैं आहत होता हूँ और आनंद की जगह मैं थोड़े हल्के शब्द खुशी का प्रयोग करना चाहूँगा। कई बार ऐसा भी होता है कि मैं किसी बिन्दु पर उंगली नहीं रख पाता कि कोई कविता मुझे क्यों अच्छी लग रही है और जब निर्णायक तौर पर कुछ लिखने की बारी आती है, तो मैं खुद को अपनी ही प्रिय रही कविता के खिलाफ पाता हूँ। ऐसे मौकों पर मेरा कवि कंधे उचकाकर खुद को मुझसे अलग कर लेता है। रघुवीर सहाय की कविताओं और केदारनाथ सिंह की लंबी कविता 'बाघ' के संदर्भ में ऐसा ही हुआ। इस पुस्तक की पहली पांडुलिपि एक प्रकाशक ने भुला दी और 'बाघ' पर मेरा आलेख खो गया। उसकी दूसरी कॉपी अब तक नहीं मिली। कई बार इसके विपरीत भी होता है और सामान्य लग रही रचना लिखते वक्त विशिष्ट बनती चली जाती है। केदारनाथ अग्रवाल और वीरेन डंगवाल की कविताओं के साथ कुछ यही हुआ।

अपने कुछ प्रिय कवियों, जिन पर मैंने लिखा भी सकारात्मक ही, के मामले में यह होता है कि एक बार जंच जाने पर मैं हर आने-जाने वाले के सामने उनका पाठ करता हूँ। इस दौरान हर बार उनकी नयी-नयी अर्थध्वनियाँ खुलती जाती हैं। महीनों बाद जब पढ़ने का दौर खत्म होता है तब ही मैं उन पर लिख पाता हूँ। आलोक धन्वा, विजय कुमार, सविता सिंह आदि के साथ ऐसा ही हुआ। इधर विजेन्द्र की सत्तर के दशक की कविताओं को मैं अपने मित्रों को सुना रहा हूँ।

कुछ ऐसी भी कविताएँ रही हैं, जिनका सस्वर पाठ मैंने कई बार किया है, अपने अकेलेपन से लड़ते हुए, पर उन पर कुछ लिखा नहीं। 'राम की शक्तिपूजा', 'अँधेरे में', 'भूल-गलती', 'टूटी हुई बिखरी हुई', 'अमन का राग' आदि ऐसी ही कविताएँ हैं। एक समय ऐसा भी गुजरा, जब मीरा के कुछ पदों को मैं रात-भर गाता रहा और रोता रहा।

जनकवि बनाम जनतंत्र का कवि

नागार्जुन जनकवि हैं, तो रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा जनतंत्र के कवि हैं। जनतंत्र का कवि राष्ट्रकवि के निकट की विभूति है। जनतंत्र राष्ट्र से ज्यादा मूर्त शब्द है। राष्ट्र में जन गुम हो जाता है पर जनतंत्र में तंत्र के प्रमुख रहते हुए भी जन की एक भूमिका उसमें बराबर बनी रहती है। जन की भूमिका को जो कवि इस तंत्र में रहते हुए बचाना चाहता है वह हुआ जनतंत्र का कवि। इन अर्थों में रघुवीर सहाय सबसे आधुनिक कवि हैं। पर जनतंत्र की सीमाएँ कवि की भी सीमाएँ हैं। जनतंत्र में उपस्थित विपक्ष की तरह उसकी भूमिका भी उतनी ही क्रांतिकारी होती है। पर सत्ता में आते ही वह क्रांतिकारिता जिस तरह चुक जाती है उसी तरह जनतंत्र का कवि भी तंत्र में शामिल होने तक ही बेचैन रहता है, तंत्र को बदलने वाले जनकवियों की तरह वह अपनी सीमा का अतिक्रमण नहीं करता। इमरजेंसी के दौरान रघुवीर सहाय की भूमिका को लेकर आप उनकी सीमाओं की पड़ताल कर सकते हैं। श्रीकांत वर्मा की जन के अलावे कांग्रेस के प्रति प्रतिवद्धता को भी हम इसी तरह से समझ सकते हैं।

आभार

'कविता का नीलम आकाश' के रूप में पुस्तक का पहला प्रूफ धर्मेन्द्र सुशांत ने देखा था और कील-कांटे दुरूस्त किए थे। इस बीच पुस्तक पर विवाद हुआ और अव दो सौ पृष्ठों से ऊपर की इस पुस्तक को संपादित कर एक सौ सड़सठ पृष्ठ कर दिया गया है, शेष सामग्री का अगली पुस्तक में उपयोग कर लिया जाएगा। पुस्तक के दूसरे प्रूफ के लिए किशन जी का मेल आ चुका था कि प्रूफ हो चुका हो तो पुस्तक छाप दी जाए। इसी बीच आरा से 'रू' के प्रकाशन के संदर्भ में दिल्ली आए 'रू' के संपादक, कवि कुमार वीरेन्द्र ने अपनी भाग-दौड़ के बीच पुस्तक का फाइनल प्रूफ देखा और कुछ बदलाव सुझाए। पुस्तक का चौथा खंड उन्होंने ही सुझाया और नया नाम 'अंधेरे में कविता के रंग' भी सुझाया, जो मुझे और सुधीर भाई को ज्यादा जंचा। फिर अतुल जी भी अपनी सदाबहार मुस्कुराहट के साथ तत्पर दिखे।

इन आलेखों व टिप्पणियों में से अधिकांश 1989 से अब तक बहुमत, समयांतर, तद्भव, समकालीन कविता, संप्रति पथ, जनपथ, आवर्त्त, संवेद, कल के लिए, युद्धरत आम आदमी, सहारा समय, प्रभात खबर, जनादेश, पाटलिपुत्र टाइम्स, जनवाणी, न्यूज ब्रेक, आइडियल एक्सप्रेस आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। इन सबका मैं आभारी हूँ!

–कुमार मुकुल

अनुक्रम

उजाड़ का वैभव

जहाँ मिल सके आत्मसंभवा

अँधेरों में अपना चमकता चेतन विश्वास गाड़ती स्त्रियाँ

महादेवी वर्मा के आँसुओं से लबरेज़ हिंदी कविता में गगन गिल ने करुणा का आलोक रचा तो कात्यायनी ने उसे एक विद्रोही मुद्रा दी। अब अपने पहले कविता-संग्रह 'अपने जैसा जीवन' में सविता सिंह समकालीन हिंदी कविता की सीमाएँ बतलाती उसे तोड़ती नज़र आ रही हैं। कविता में उनकी चुनौती कविता के बाहर परंपरा तक जाती दिखती है। वे खुद को उस मातृसत्तात्मक समाज से जोड़ती हैं, जहाँ ऊँचे ललाट वाली विदुषियाँ रहती थीं। जिनका विराट व्यक्तित्व होता था पुरुषों की तरह। ऋग्वेद में एक पंक्ति है– 'ममपुत्रः शत्रु हरोऽथो मे दुहिता विराट!' जिस सूक्त की यह पंक्ति है, उसकी रचनाकार एक स्त्री ऋषि शची पौलमी हैं। अपनी कविता 'परंपरा में' में सविता उसी विराट स्त्री को तलाशती दिखती हैं, जो ऋग्वेद के बाद फिर नहीं दिखती। ऋग्वेद में शची पौलमी के अलावा यमी, उर्वशी, इन्द्राणी आदि दर्जनों महिला ऋषि हैं, जिन्होंने सूक्त (श्लोक) रचे हैं। पुरुष ऋषियों के मुकाबले इनके सूक्तों में इनका आत्मविश्वास ज्यादा प्रकट हुआ है। आज भी अगर कुछ शंकराचार्य स्त्री के वेद पढ़ने के विरोधी हैं, तो इसका यही कारण दिखता है कि कहीं वेद पढ़कर वे अपने खो चुके आत्मविश्वास को पुनः प्राप्त ना कर लें। उपरोक्त ऋचा का आरंभ करती शची पहले कहती हैं कि 'सूर्य के उदय के साथ मेरा भाग्य उदय होता है।' अब लंबे अंतराल के बाद सविता सिंह की कविताओं में शची के उदात्त कवित्व बोध की स्मृति दिखाई पड़ती है–

दूर तक सदियों से चली आ रही परंपरा में
उल्लास नहीं मेरे लिए
कविता नहीं
शब्द भले ही रोशनी के पर्याय
रहे हों औरों के लिए
...शब्द लेकिन छिपकर
मेरी आँखों में धुंधलका बोते रहे हैं
...दूर तक सदियों से चली आ रही परंपरा

में वह ऊँचे ललाट वाली विदुषी नहीं
जो पैदा करे स्पर्धा...(परंपरा में)

प्रकृति की कठोर निस्संगता अपने परस्पर विरोधी धाराओं के साथ सविता के यहाँ अभिव्यक्ति पाती है। प्रकृति और जीवन की विडंबनाओं के ऐसे चित्र इससे पहले बांग्ला कवियों शक्ति चट्टोपाध्याय, विष्णु डे के यहाँ ही मिलते हैं।

ऐसे में क्या करती हो तुम...
...जब पत्ते झर रहे होते हैं
एक कठोर निरंतरता में...
या
आज भी हर रात
एक तारा मरता है मुझ में
हर रात उतना ही प्रकाश मरता है... (मैं तारों का एक घर)

उदात्तता, जो पुरुषों की थाती मानी जाती रही है, उसमें भी सविता की कविता बट्टा लगाती दिखती है।

सविता की प्रकृति संबंधी कविताओं की विशेषता यह है कि वहाँ खुद कवयित्री प्रकृति स्वरूप होकर स्थितियों को अभिव्यक्त करती है। इसमें कहीं-कहीं बेरुखी झलकती है और यही इन कविताओं की ताकत बन जाती है।

मायकोवस्की ने आत्महत्या के पहले तारों-भरे आकाश का जिक्र करती एक कविता लिखी थी। सविता की कविता में भी प्रकृति का वह मारक सम्मोहन बार-बार अभिव्यक्त हुआ है।

जो संशय अरुण कमल के तीसरे संग्रह 'नए इलाके में' की कविताओं की जान है या इसे इस तरह भी कह सकते हैं कि जो संशय अरुण कमल की कविताओं की जान निकाल देता है, वह सविता के यहाँ भी मौजूद है। पर जिजीविषा और अपार धैर्य को अभिव्यक्त करती कविताएँ सविता के पास ज्यादा हैं। और यह संतुलन उनकी परंपरान्वेषी व्यापक जीवन-दृष्टि के कारण ही संभव हो सका है।

कुछ भी हो सकता है आज
कोई आत्महत्या या मौत...
आज शाम से पहले ही आ सकती है मौत (संशय)
और
कोई हवा मुझे भी ले चले अपनी रौ में
उन नदियों, पहाड़ों, जंगलों में...
मुझे भी दिखाए कठिनतम
स्थितियों में भी कैसे
बचा रहता है जीवन (कोई हवा)

अपनी चर्चित कविता 'भागी हुई लड़कियाँ' में आलोक धन्वा लिखते हैं–

वह कहीं भी हो सकती है
गिर सकती है
बिखर सकती है
लेकिन वह खुद शामिल होगी सबमें
गलतियाँ भी खुद ही करेगी
सबकुछ देखेगी
शुरू से अंत तक
...अपना अंत भी देखते ही जाएगी
किसी दूसरे की मृत्यु नहीं मरेगी।

सविता की कविताओं से गुजरते लगता है कि मात्र दस साल पहले तक आलोक जैसे कवि ने जैसी स्त्री की कल्पना की थी वह इनमें मौजूद है। वे बता रही हैं कि अब उन्हें दूसरे की करुणा और परिभाषाओं की जरूरत नहीं। अपने हिस्से के अँधेरों को कम करना उनसे जूझना सीख गई है सविता की स्त्रियाँ। यह कैसी विडंबना है कि हिंदी की युवा कविता पीढ़ी के एक प्रतिनिधि प्रेम रंजन अनिमेष जब अपने पहले कविता-संग्रह 'मिट्टी के फल' में अपनी 'गालियाँ' कविता में हार न मानने वाली स्त्री के हथियार के रूप में नाखूनों के अलावा मात्र गालियों की कल्पना कर पाते हैं, उसी समय सविता लिख रही होती हैं–

मन पर न करने दूँ राज
किसी देवता को
धर्म में नतमस्तक होने को तैयार
किसी सुख को जो हो दुख का ही पर्याय
मन पर न झेलूँ कोई कोई वार
न रोऊँ अकेले किसी कोने में (अँधेरे मेरे हिस्से के)

एक अँधेरा है जो सालता है मुझे
धमकाता है– मैं ही हूँ अस्तित्व में तेरे
मुझसे ही बना तू अपनी दुनिया
...
एक विश्वास है कि
इस अँधेरे के बीचों-बीच गड़ा है
...
एक सच है जिसे अब मैं भी जानती हूँ

कि दुख-दुविधाओं का यह संसार भी
आखिर कुछ नहीं होता। (एक अँधेरा है जो मानता है)

सविता की स्त्रियाँ, अपनी अभिव्यक्ति के लिए आंसुओं व गालियों की मुहताज नहीं हैं। वे वे स्त्रियाँ हैं जिन्होंने अपने चमकते, चेतन विश्वासों को अँधेरे के बीचोंबीच गाड़ दिया है।

सविता के पास 'मन की यातना' और 'आह मृत्यु' जैसी कविताएँ भी हैं। मृत्यु के उस ताप को बहुत कम लोगों ने अनुभूत किया है—

...समय आ गया है
तारे भी झिलमिलाते हैं अपरिचित ढंग से अब
पेड़ विस्मय से देखते हैं दूसरी तरफ
कुछ घटित हुआ है अवश्य मेरे विरुद्ध
लेकिन आह! मृत्यु
अभी तो कुछ भी नहीं किया। प्रेम भी नहीं ठीक से
सो भी नहीं सकी आँख भर

जैसे मौत की आँखों में आँखें डाल देख चुकी हों सविता, उसके पार तक। जैसी एक नई दुनिया शुरू होती है उन कविताओं के साथ जो उससे पहले कभी ऐसी नहीं थी। 'सुख' कविता में आप मृत्यु के बीच स्थित जीवन के मधुर स्वप्नों की पैजनी बजता सुन सकते हैं—

नींद में उतरने के लिए खड़े हैं
अनगिनत सपने

अपना अतीत तलाशती—'बैठी हैं औरतें विस्मय में'

...रोती विलाप करती स्त्रियाँ
करती शामिल पूरे इतिहास को
जिसमें उनके लिए अंधकार का मरुस्थल बिछा है
बैठी हैं याद करतीं अपनी महान परंपरा को
जिसमें थी उनकी स्वायत्तता
...अन्नदात्री वे उपेक्षित नहीं करती थीं
एक भी मनुष्य को...

स्त्रियों के चेहरे यहाँ पुरुषों की नजर से देखे गए परंपरागत चेहरे नहीं, 'सत्याग्रही' स्त्रियों के चेहरे हैं। स्त्रियों की भविष्य की दुनिया के चित्र हैं यहाँ, अपने पूर्वजों के शाप और अभिलाषाओं से दूर, पूर्णतया अपने।

जिस समय भारतीय राजनीति के जोशीले चक्रवर्ती नायक भारतीय इतिहास की 'डाल-डाल पर सोने की चिड़िया' बैठाना चाह रहे थे सविता उनकी महान इतिहास-दृष्टि का मजाक उड़ाती लिखती हैं—

नमन करें उस देश को
जहाँ मार दी जाती हैं हर रोज
ढेर सारी औरतें
जहाँ एक औरत का जीवित रहना
एक चमत्कार की तरह है।

वर्गों के बँटवारे के बाहर रह जाती स्त्री-जाति की त्रासदी को रेखांकित करती है सविता—

...सोने-चाँदी से लदी वह राजा की बेटी
मान-मर्यादा के लिए सौंप दी गई

जीवन में 'प्रेम' के दर्शन और उसकी क्रांतिकारी भूमिका का अधिकांश कवि एक थाती की तरह उल्लेख करते हैं पर सविता ऐसी कवयित्री हैं जो प्रेम की रूढ़ियों पर भी उँगली उठाने का साहस रखती हैं—

बहुत आसानी से बदलती इस दुनिया में
बदल सकता है जीवन
लेकिन तब जब मन ही इतना रूढ़ हो
प्रेम जैसा ही
तब कुछ भी नया रचे जाने का अभ्यास
वह कर नहीं सकता

प्रेमी मन की चंचलता के आख्यानों से साहित्य पटा है पर मन की भी रूढ़ि होती है उसे कितने देख पाते हैं।

यह कहा जा सकता है कि सविता की यह बहुस्तरीय जीवन-दृष्टि उसे सही अर्थ में युवा कविता के प्रतिनिधि कवि के तौर पर सामने लाती है। यह सविता की दृष्टि ही है जो आजादी के क्षणों का भी ऊर्जा के स्रोत के रूप में दोहन कर पाती है—

मुझमें मरकर टपक पड़ती है कोई एक चिड़िया
रिसने लगता है उससे मेरा ही खून
...
करने दे मुझे फिर मेरे हिस्से के काम
पाने दे मुझे मेरे अवसाद।

जीवन-जगत में स्त्री-जाति की आधी भूमिका को शायद पहली बार पूरा दिखाना चाहती हैं सविता की कविताएँ, बिना अपना स्वर ऊँचा किए, विश्वस्त ढंग से।

•

एक अनंत से दूसरे अनंत तक

अनामिका की कविताएँ औसत भारतीय स्त्री जीवन की डबडबाई अभिव्यक्तियाँ हैं—

मैं उनको रोज झाड़ती हूँ—पर वे ही हैं इस पूरे घर में
जो मुझको कभी नहीं झाड़ते!

'फर्नीचर' कविता की ये पंक्तियाँ आधी आबादी के गहन दुख को उसकी सांद्रता के साथ जिस तरह अभिव्यक्त करती हैं, वह अभूतपूर्व है। घर-भर को खिला-पिला-सुलाकर जब एक आम घरेलू स्त्री जाड़े की रात में अपने बरफाते पाँवों पर खुद आयोडीन मलती अपने बारे में सोचना शुरू करती है तो सारे दिन, घर-भर से मिले तहाकर रखे गए दुख व झिड़कियाँ अदबदा कर बहराने लगते हैं। तब अलबलाई-सी उसे कुछ नहीं सूझता तो कमरे में पड़े काठ के फर्नीचर को ही सम्बोधित कर बैठती है वह। कोई जीवित पात्र उसके दुखों में सहभागिता निभाने को जब सामने नहीं आता तो उन पर बैठती वह सोचती है कि घर-भर से यही अच्छे हैं जो सहारा देते हैं। अपने निपट अकेलेपन से लड़ती उसकी कल्पना का प्रेमी तब आकार लेने लगता है। जिसका सपना लिए वह उस घर में आई होगी और उसे वहाँ अनुपस्थित पा उसके इन्तजार में दिन काट रही होगी। भारतीय लड़कियों के मन में बचपन में ही एक राजकुमार बिठा दिया जाता है, जिसे कहीं से आना होता है। बचपन से किशोरी और युवा होने तक उस राजकुमार की छवियाँ रूढ़ हो ऐसी ठोस हो जाती हैं कि उन्हें अपने मन का राजकुमार कभी मिलता नहीं तब इसी तरह अपने अकेलेपन में वे जड़ चीजों में अपना प्रिय, अपना राजकुमार आरोपित करती हैं। चूँकि बचपन से ही जड़ गुड्डे-गुड़ियों में, राजकुमार को ढूँढने पाने की उन्हें आदत होती है—

किसी जनम में मेरे प्रेमी रहे होंगे फर्नीचर
कठुआ गए होंगे किसी शाप से...
एक दिन फिर से जी उठेंगे ये...
थोड़े से तो जी भी उठे हैं।
गई रात चूँ-चूँ-चूँ करते हैं;

ये शायद इनका चिड़िया जनम है,
कभी आदमी भी हो जाएँगे!

फर्नीचर में अपना प्रेमी ढूँढ़ जब वे सुकून-भरी साँस लेती हैं और उनकी कल्पना में वे जीवित होने लगते हैं तो वह फिर घबरा जाती है कि कहीं जीवित होने पर ये भी घर-भर की तरह रूखाई का व्यवहार करने लगे तब। क्योंकि जिसको राजकुमार बता उसे ब्याहा गया होता है वह कहीं से उसके सपनों के राजकुमार से मिलता नहीं, सो उसके भीतर पड़ी दुख की सतहों से आवाज उठती है कि क्यों वह इन जड़ चीजों को जिलाने पर पड़ी है कि कहीं वे सचमुच जग गए तो वे भी उसे शासित करने वाली एक सत्ता पिता-पति-पुत्र में बदल जाएँगे और उसे मौके-बेमौके झाड़ने लगेंगे—

जब आदमी ये हो जाएँगे,
मेरा रिश्ता इनसे हो जाएगा क्या
वो ही वाला
जो धूल से झाड़न का?

यह रिश्ते का सवाल बड़ा जटिल है भारतीय स्त्री के जीवन में, जो आजीवन रिसता रहता है, कि उसका इससे या उससे रिश्ता क्या है...। मनुष्य से मनुष्य का रिश्ता उसके लिए नाकाफी हो जाता है। वह जवाब दे नहीं पाती ताउम्र इस सवाल का कि यह या वह तेरा लगता कौन है...। 'फर्नीचर' कविता एक भारतीय स्त्री के जीवन और उसके पारंपरिक रिश्तों के खोखलेपन को जाहिर करती है।

दरअसल अनामिका की स्त्रियाँ परंपरा का द्वन्द्व सँभाले अपनी रौ में आगे बढ़ती स्त्रियाँ हैं जो स्वभाव से ही विद्रोहिणी हैं, विद्रोह उनका बाना नहीं है, जीवन ही है वह। विद्रोह की लौ को जलाए, जलती हुई वे, किसी भी कठिन राह पर डाल दिए जाने की चुनौती स्वीकारती हैं। उन्हीं कठिन घड़ियों में से, उसी कठोर जीवन में से निकाल लेती हैं वो अपने आगामी जीवन का सामाँ—

जब मेरे आएँगे—
छप्पर पर सूखने के दिन,
मैं तो उदास नहीं लेटूँगी!
छप्पर के कौए से ही
कर लूँगी दोस्ती,
काक भुशुंडी की कथाएँ सुनूँगी
जयंत कौए का पूछूँगी हाल-चाल
और एक दिन किसी मनपसंद
कौए के
पंखों पर उड़ जाऊँगी...
कर्कश गाते हैं तो क्या

छत पर आते तो हैं रोज-रोज,
सिर्फ बहार के दिनों के नहीं होते
साथी!

पुरुष सोचता है कि उसने स्त्री के लिए तय कर रखे हैं चौखटे, छप्पर! पर मन-ही-मन ये विद्रोहिणी स्त्रियाँ सारा हिसाब लगाती रहती हैं कि वे भी जानती है आजादी का मरम, साथी के साथ का सुख, वे भी चुनती रहती हैं अपने दुख के दिनों के साथियों को और तैयार रहती हैं चल देने को उसके साथ किसी भी पल–

वह कहीं भी हो सकती है–
गिर सकती है
बिखर सकती है
लेकिन वह खुद शामिल होगी सबमें
गलतियाँ भी खुद ही करेगी...
अपना अंत भी देखती हुई जाएगी (आलोक धन्वा)

यह बहुत ही ढीठ स्त्री है, ढीठ नहीं लगती उसे। वह खुलकर उस जयंत कौए का हाल पूछती है जिसने राम के साथ बैठी सीता के पाँवों में चोंच मारी थी।

दरअसल अनामिका की कविताओं में आए तमाम शब्द, बिम्ब, प्रतीक, वस्तुएँ या जो कुछ भी प्रयुक्त हैं वो एक बहाना भर हैं उस स्त्री के विद्रोह को प्रकट करने के। पुरुष समझता है कि अब उसने समेट लिया है उसे, उस आग को पी लिया है। पर स्त्री है कि बल उठती है फिर फिर, बलती रहती है अपनी तरह से, आखिर पुरुष की तरह वह भी एक ऊर्जा का केन्द्र है। भला उसका विनाश कैसे हो सकता है, बस रूपांतरित ही हो सकती है वह और उस रूपांतरण में ही उसे मिटा देने, नियंत्रित करने का भरम पाले रखता है पुरुष–

अपनी जगह से गिरकर
कहीं के नहीं रहते
केश, औरतें और नाखून

स्त्री मनोविज्ञान को समझने का दावा करने वाले ऐसी अशेष मूर्खताओं के पुंज पुरुषों को अच्छी तरह पहचानती हैं अनामिका की स्त्रियाँ जो पहले तो उन पर डोरे डालते हैं, कसीदे कढ़ते हैं उनके रूप और शान के फिर कुछ हाथ ना लगने पर हवा में उछाल देते हैं 'रंगीन अफवाहें', खुदमुख्तार हो बन जाते हैं चरित्र की कसौटी, ऐसे पुरुषों से हाथ उठा तौबा करती अनामिका की स्त्रियाँ कहती हैं– *"परमपुरुषो बख्शो...।"*

हिन्दी के कवि बहुत कम शब्दों से अपनी चमत्कारी कविता संभव कर रहे हैं अरसे से। पर ज्ञानेन्द्रपति, लीलाधर मंडलोई से लेकर कुमार वीरेन्द्र तक कवियों की एक ऐसी जमात भी हिन्दी में आ रही है, जो नए-नए शब्दों को अपनी कविताओं

में जगह देकर हिन्दी के लिए नई जमीन बना रही है। ज्ञानेन्द्रपति अगर संस्कृत के छूट रहे शब्दों को ला रहे हैं तो मंडलोई आदिवासी जीवन के आस-पास से शब्द ला रहे हैं, वहीं कुमार वीरेन्द्र भोजपुरी से बड़े पैमाने पर शब्द ला रहे हैं... और यह सब सहजता से हो रहा है बिना किसी अतिरिक्त ताम-झाम के। कवयित्रियों में अनामिका अकेली हैं जो यह काम बड़े पैमाने पर कर रही हैं? वे आम बोलचाल के ऐसे शब्दों को कविता में ला रही हैं, जिन्हें आमतौर पर छोड़ दिया जाता है– जैसे चानी, कछमछ, टोंगा, मताई; गपाष्टक, अगरधत्त, चाचीपंथी, जनमतुआ आदि।

वैदिक काल में स्त्री ऋषि शची पौलमी ने एक मंत्र में उस समय ऊँचा सर कर चलने वाली स्त्रियों को लक्ष्य कर लिखा था– 'मे दुहिता विराट्'। हिन्दी कविता में सविता सिंह के यहाँ वह स्त्री पहली बार दिखी थी अपनी विराटता के साथ। अनामिका के यहाँ वह विराटता व उद्दात्तता अपनी अलग असीमता के साथ अभिव्यक्त होती है–

आकाश खुद भी तो पंछी है–
बादल के पंख खोल उड़ता चला जाता है
एक अनंत से दूसरे, अनंत तक।

विष्णु खरे ने हिन्दी-कविता को नई ऊँचाई दी है पर हिन्दी में आ रही इन कवयित्रियों ने नए सिरे से परिभाषित कर बताना शुरू कर दिया है कि खरे के अनंत के मुकाबिल अभी बहुत से नए अनंतों की अभिव्यक्ति बाकी है। कविता का अंत नहीं है कहीं, ना जीवन का, आधी आबादी का। अनंत कविता में रचा जाना अभी बाकी है, वही रच रही हैं अनामिका।

ऐसा होता है कि कभी-कभार सामने वाला व्यक्ति आपसे पूछता है कि– कहाँ खोए हैं आप– तो चौंकते हैं आप कि अरे नहीं...। तो यह जो खोया-खोयापन है वह अनामिका की कविताओं का स्वभाव-सा है। वह हिन्दी की पहली ऐसी कवयित्री हैं जो इस खोये-खोयेपन को अपनी रचनात्मक ताकत बना पाती हैं। इसके चलते अक्सर यह होता है कि शीर्षक पढ़ जो अंदाज लगा आप पन्ने पलट कविता तक पहुँचते हैं, वहाँ जाने पर आप कोई और ही कविता पाते हैं। पर कविता आपको अपने साथ ले चलती है, अपनी खोयी-खोयी नई-सी दुनिया में जहाँ फिर बहुत कुछ पा जाते हैं, आप अनायास। आप चलते हैं 'हँसी' पढ़ने और पढ़ते हैं हूक–

कोई बहुत अपना
उठकर जब चला गया
सिगरेट पी आने
दुनिया से बाहर
हमने सोचा–
'साँसें घुटती-सी हैं'
अब शायद हमसे भी जिया नहीं जाएगा...

या

किसी को जानना

मोल ले लेना है

अपने लिए एक आईना।

अनामिका जानती हैं यह सच, इसलिए बारहा दिखा पाती हैं वो आईना। अनामिका का स्त्री-विमर्श चर्चा में रहने के लिए किया जा रहा विमर्श नहीं है। वह उस आधी आबादी का विमर्श है जो विमर्श करती नहीं जीती है—

दरअसल जो चुनी जा रही थीं—

सिर्फ जुएँ नहीं थीं

घर के वे सारे खटराग थे

जिनसे भन्नाया पड़ा था उनका माथा

इस तरह यह वह जमीनी विमर्श है, जहाँ स्त्री रोज अपनी लड़ाई लड़ती है, हारती है, हारते-हारते जीतती है?

वे कहते हैं और कहते हैं ठीक—

अपनी औकात जाननी चाहिए,

पैर उतने पसारिए

जितनी लम्बी सौर हो!

और सौर के भीतर

गुड़ी-मुड़ी होकर

जो सोया हो कोई सौर-मंडल?

सोए हों जो चाँद-सूरज

बाल-बुतरू की तरह

...सोए हों जो तारे,

पेड़-वेड़...

जो पहाड़ टभक रहे हों मेरे आँचल में

मेरी यह दूधभरी छाती बनकर?

घर ये जो है—

इक्कट-दुक्कट का बाड़ा ही है...

खेल रही हूँ, जब तक...

बाद उसके

हद क्या? क्या बेहद?

यहाँ आलोक धन्वा फिर याद आते हैं—

तुम...

कितना आतंकित होते हो

जब स्त्री बेखौफ भटकती है

ढूँढ़ती हुई अपना व्यक्तित्व

एक ही साथ वेश्याओं और पत्नियों

और प्रेमिकाओं में।

दरअसल स्त्री-विमर्श की सही जमीन दिन-ब-दिन पुरुषों की जहालत झेलती आम घरेलू स्त्री के पास ही है। अनामिका वहीं से अपनी बात उठाती हैं, अपनी सौर का विस्तार बता पाती हैं। जैसे कभी सीता ने बताया था लव-कुश के माध्यम से राम-लक्ष्मण-हनुमान की सेना को जमीन सुंघा कर। वे बताती हैं कि हम तुम्हारी गुलामी झेलती हैं पर अक्सर खेलती हैं, तुम्हारे घरों की सीमा में अपनी अक्ल से और जब चाहती हैं दिखा देती हैं तुम्हें भी अपनी औकात, दिखाती रहती हैं कि घर मेरी ही नहीं तुम्हारी भी सीमा है? उस सीमा के बाहर कदम रखा नहीं बेखौफ कि तुम्हारी तथाकथित सत्ता, तुम्हारा कल्पित ब्रह्मांड डगमगाकर बैठने लगता है?

गुलामी हमेशा परस्पर की होती है, अक्सर हमें उसका बोध नहीं होता। जब हम किसी को कहते हैं कि तू खड़ा रह यहीं पूरे दिन, देखता हूँ तू यहाँ से कैसे हिलता है, तब तुम भी उसे देखते खड़े रह जाते हो पूरे दिन? मेरे पिता अंग्रेजी शिक्षक हैं, विद्वान। पर माँ को अँग्रेजी आती नहीं। सो उनकी विद्वता का माँ पर कोई असर नहीं होता। पर माँ जिन भोजपुरी मुहावरों का प्रयोग करती हैं, वह पिता को आती है, जिससे वो बेध डालती हैं उन्हें। अभी हाल ही में दिल्ली में मेरे एक अग्रज, मित्र अपना हाल सुना रहे थे— कि उनकी पत्नी ने एक ज्योतिष से परिवार की ग्रहदशा दिखाई है, जिसके अनुसार पति को उससे एक साल दूर रहना होगा, कमाऊ बेटे के हित में। मतलब कमाऊ पति की जगह कमाऊ बेटे के आते ही उसने अपनी गुलामी बदल खुद पर खाना आदि बनाने को लेकर आश्रित पति को दूर कर उसे अकेला और असहाय करने की राह चुन ली। तो कुल जमा मित्र के क्रान्तिकारी जीवन की एक उपलब्धि यह ज्योतिषाश्रित परिवार भी हुआ। तो तमाम क्रान्तिकारी ऐसी ही विडम्बनाएँ रच रहे हैं? ऐसा ही परिवार बचा रहे हैं।

तो इस तरह के घर-परिवार बचाने की मुहिम पर साफ सवाल खड़ा करती हैं अनामिका—

खुसरो जी, उस वक्त भी छेड़ना मत तुम,

घर चलने का किस्सा,

कौन घर होता हुआ देखा 'आपनी'?

कथाकारों की तरह अपने कविता के पात्रों के मानस में उतर कर उसके अंतर्द्वंद्वों, उसके दर्शन के साथ, उसकी भाषा में ही उसे उतार देना अनामिका की रचना-प्रक्रिया का हिस्सा-सा है। तभी वे पात्रों को उसके परिवेश की ध्वनियों और उसकी निजी शब्दावली के साथ रच पाती हैं। 'चकलाघर की दुभहरिया', 'कूड़ा बीनते बच्चे' आदि कविता में इसे देखा जा सकता है—

दोपहर में गली के नुक्कड़ पर
लू से पत्तों का गदहपटका...
सीढ़ी के दोंगे में बिछाकर चटाई
बैठी थी धूप बाल खोले...
क्या नदी का पहला पाप है विह्वलता?...
उतरता हुआ क्यों अकेला हो जाता है कोई भी...
कोई सोए साथ भले पर जगते सभी अकेले हैं।...
जिन्दगी इतनी सहजता से जो हो जाती है विवस्त्र
क्या केवल मेरी हो सकती– उसने कहा था!
पर वह केवल उसकी क्यों होती?...
(चकलाघर की दुपहरिया)

बोरियों में टनन-टनन गाती हुई
रम की बोतलें
उनकी झुकी पीठ की रीढ़ से
कभी-कभी कहती हैं :
कैसी हो? कैसा है मंडी का हाल?
(कूड़ा बीनते बच्चे)

मैं एक दरवाजा थी
मुझे जितना पीटा गया,
मैं उतनी खुलती गई।

दरअसल यह पुरुषों के अब तक चले आ रहे विमर्श के मुकाबले का स्त्री-विमर्श है जो अपने आस-पास की चीजों से, जमीन से अपना दर्शन रचता है, जिसमें लड़ने का माद्दा है और सामने वाले की आँखों में आँखें डाल अपना दर्शन दिखला पाने, समझा पाने का इत्मीनान भी है। यह आधी आबादी का संघर्ष और उसकी अर्जित भाषा का इत्मीनान है। अपने श्रम का मोल समझ पाने और उसे समझा पाने के आत्मविश्वास से पैदा इत्मीनान है यह, जो जीवन के नए दर्शन का दरवाजा खोलता है। यहाँ से एक नई कविता का आरम्भ होता है। मुक्तिबोध ने लिखा था– कहीं भी खत्म कविता नहीं होती...। अनामिका कहती हैं कहीं से भी शुरू हो सकती है कविता, कहीं से उठ सकती है आवाज। अक्ल के कचराघरों पर कभी भी फेरी जा सकती है 'झाड़ू' और मुक्तिबोध को याद किया जा सकता है फिर, फिर–

कि बेहतर चाहिए...।

•

ली जा रही जान-सी पुकारती कविताएँ

"कभी-कभी पाखंड से भी कुछ मूल्यों की व्यंजना हो जाती है और आधुनिक आलोचना में प्रायः पूंजीवादी व्यवस्था के एकाधिकारी रूपगत मूल्यों की अभिव्यक्ति हो रही है। आजकल न्याय और सहृदयता की नहीं, आदेश और चालाकी की कद्र होती है। आलोचक कृतियों में पैठने का प्रयत्न नहीं करते बल्कि चालाकी से उसका उपयोग करते हैं।" (फ्रेडरिक क्रूज) समकालीन साहित्यिक संदर्भ में उपरोक्त पंक्तियों के निहितार्थ साफ ध्वनित होते देखे जा सकते हैं। ऐसे समय में जब हमारे नामवर आलोचक, कवि रचनाओं की पड़ताल के बजाय प्रकाशकीय वक्तव्यों के पृष्ठपोषण में ज्यादा रुचि ले रहे हों, काल से ज्यादा 'मुहूर्त' या 'कालक्षण' के क्षणवादी लेखन की महत्ता बताने में लगे हों और कल तक की 'दुहाजू की बीवी' को बरगद जैसी भाषा बता उसकी दहाड़ सुनने में मगन हों, विजय कुमार की कविताएँ न्याय और सहृदयता को जिस ताकत और विश्वास के साथ सामने लाती हैं वह एक त्रासद विस्मय से मरते हमें हमारे भूले हुए रास्तों की याद दिलाती हैं–

एक डूबती शाम यह दुनिया
किसी नियान साइनबोर्ड की तरह चमक रही है बेमतलब
और हम घर का रास्ता भूल गए हैं...।

स्पष्ट है कि हमारा झल्लकड़पन बेमतलब की रोशनी से संबंधित है।

'रात-पाली' की कविताएँ इस मामले में मिसाल की तरह हैं कि वे आत्मविश्वास से पूर्ण जिजीविषा की ताकत को सादे ढंग से व्यक्त करते हैं। यह जिजीविषा सामान्यतः कवियों में ढूँढ ली जाने वाली जिजीविषा नहीं है, यह चौतरफे हमले से मिटा दिए जाने की कोशिशों के बरक्स खुद को बचा ले जाने वाली जिजीविषा है। इस अर्थ में विजय कुमार की कविता 'एक ली जा रही जान की तरह बुलाती है, भाषा और लय के बिना, केवल अर्थ में' (आलोक धन्वा)।

चीथड़े फड़फड़ाते हैं
चूमती है आधी रात
हर बड़े शहर में कंगालों को

भिखमंगों के चेहरे
फरिश्तों से ज्यादा चमकीले हैं...इस वक्त (सड़क के बच्चे)

मुंबई जैसे महानगर में रहनेवाले इस कवि के यहाँ जिस तरह जीवन की बारीकियाँ पथरीली जकड़नों को तोड़ खुद को जाहिर करती हैं, वह नई कविता पीढ़ी के लिए ऑक्सीजन की तरह है। 'प्यार खत्म नहीं होता' कविता की पंक्तियाँ देखें–

...लोग सिर्फ दुर्घटनाओं की चपेट में हैं
एक दिन खत्म हो जाती है सहनशक्ति
प्यार तो कभी खत्म नहीं हुआ था
...यदि हैं धमकियाँ अज्ञात
भय अरूप
और तिरस्कार के चलन अजीब
तो सूर्य धरती आकाश नदी और
पहाड़ों से बटोर लाएँगे हम कुछ
जो आश्वासनों की तरह होगा
हमारी सबसे उदास रातों में
पवन का एक ख़ामोश झोंका भी तो है
और आकाश में भटकता है एक सितारा भी
संताप में कभी-कभी तियड़ता है यह मन
प्रेम तब भी बचा रहता है सबसे मामूली इच्छाओं में...।

यहाँ जो जीवनी-शक्ति है, सबसे मामूली इच्छाओं में भी प्रेम को तलाश पाने की, वह हिंदी कविता में एक नए विस्तार को दर्शाती है।

विजय कुमार की कविता वह कविता है, जिसे हिंदी में पहली बार राजकमल चौधरी ने संभव किया था 'मुक्ति-प्रसंग' जैसी लंबी, जटिल और महान कविता लिखकर। 'आदमी को तोड़ती नहीं हैं लोकतांत्रिक पद्धतियाँ/पेट के बल झुका/उसे अपाहिज लाचार और नपुंसक बना देती हैं...आदमी को चले जाना चाहिए...नशेड़ियों, रंडियों...की दुनिया में'। 'मुक्ति-प्रसंग' की ये पंक्तियाँ ना जाने कितनी बार उद्धृत की गई हैं किन-किन के द्वारा और आज अरसा बाद विजय कुमार जब 'सड़क के बच्चे' कविता में लिखते हैं–

रात दर्ज होती है इन तफसीलों से परे
कोढ़ियों भिखमंगों फटेहालों अर्धपागलों की
एक नशीली दुनिया में

तो राजकमल चौधरी के निहितार्थ यहाँ स्पष्ट देखे जा सकते हैं। अरसा बाद किसी कवि ने 'नियॉन लाइटों की बेमतलब की रोशनी' के पार के इस रक्तवर्णी क्षेत्र में घुसने की हिम्मत की है। आज यह संतोषजनक है कि राजकमल के बाद

धूमिल, आलोक धन्वा और अब विजय कुमार ने एक कविता पीढ़ी को सामने लाया है। ये वे कवि हैं, जो जन्नत की हकीकत तो दिखाते ही हैं उससे दिल बहलाने में अपना वक्त भी जाया नहीं करते।

यह महत्त्वपूर्ण है कि ऐसे समय में जब हिंदी-कविता के आढ़तियों को कविता बेइंतहा चीज़ों की 'अद्‌भुत नुमाइश-परचून की दूकान' लगती है, विजय कुमार की कविता में सड़क के बच्चे दिखते हैं– 'एक चमकीली दुकान की/दरार से/किसी आदिम दुख की तरह झाँकते हुए'। इन कविताओं में कवि कंचों और चॉकलेट के रंग की जगह 'भावनाओं के रंग' देखता है और पड़ताल करता है लोगों के भीतर बनी रह गई अठन्नी-भर दया की। देखा जाए तो आज की हिंदी काव्यालोचना का अधिकांश इस 'अठन्नी-भर दया' का भाष्य है। इन सड़क के बच्चों की बेरंग रात्रि में 'आकाश से कोढ़ी चंद्रमा झाँकता' है। कभी ऐसे ही चंद्रमा की 'चाँदनी' की अजीब 'राख' को चमचमाती देख गजानन माधव मुक्तिबोध ने लिखा था– 'डूबता चाँद, कब डूबेगा।' मुक्तिबोध और कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह (जिनकी 'नीमा' चाँद पर पाँव देकर/धरती से ऊपर उठ जाती है...' जिसके सामने छोटी है 'चुराई हुई रोशनी में खड़ी/अपने आपसे लड़ती और कटती हुई दुनिया।' जिसकी लड़ाई का सच 'पसीने और खून में पलता है'– पत्थरों का गीत) के अरसा बाद किसी ने अपने आस-पास पसरी त्रासदियों पर निगाह डाली है, वरना आज के सारे तथाकथित महाकवि महानगरवासी ही हैं।

यह संग्रह इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि ऐसे समय में जब उत्तर-आधुनिकता और महानगरीय बोध हमारी सहज ग्रामीण चेतना को ग्रहण लगाता जा रहा है और नियॉन की बेमतलब की रोशनी से आजिज गाँवों के किसान आत्महत्याएँ कर रहे हैं, विजय कुमार अपनी कविता में शहर के इस तिलिस्म को तार-तार करते दिखते हैं–

हर शहर में मरे हुए लोगों की संख्या
जीवितों से ज्यादा होती है
पर वे कुछ कहते नहीं
यही है जो शहर की खामोशी को गाढ़ा बनाता है... (पुरानी किताबें)।

इस कविता में कवि देखता है कि फुटपाथ पर फैली किताबें कुछ कहना चाहती हैं, एक हड़बड़ी-थकान-छलनाओं-भुलावों के बाद भी उनके निहितार्थ नष्ट नहीं हो रहे। इस कविता के अंत तक जाते-जाते पाब्लो नेरूदा की 'जहाज' कविता का अंत कौंधता है–

यदि वह एक अप्रिय मजाक है तो फैसला करो भले आदमियो
यह सब जल्दी खत्म हो
अब गंभीरता से बातें करो

वरना इसके बाद समुद्र सख्त है
और बारिशें खून की

विजय कुमार के यहाँ चाहे हक की आवाज नेरूदा-सी बुलंदी को नहीं छूती पर हक मारने के परिणामों की ओर बहुत साफ शब्दों में इशारा किया गया है—

ये नायाब किताबें साँस लेती हुई पटरी पर
इनमें साकित समय छूते ही पिघलने को बेताब
और जो लिखा हुआ है इनके भीतर
क्या वह सूख जाएगा सूर्य की ज्वाला में...?
(या)
...फटेगा एक दिन
जीवन के किसी उत्सव में
एक टाइमबम की तरह?

यह वही उत्सवता है, जिसमें नेरूदा अपनी हिस्सेदारी माँगते हुए 'खून की बारिशों' की चेतावनी देते हैं और जिसे विजय कुमार टाइमबम की तरह फटता देखते हैं।

विजय कुमार की कविताएँ पाठकों को भीतर से हिला देती हैं और उनके भीतर जड़ें जमा रही नाउम्मीदी, भय, संत्रास सब काँपते हुए ढेर हो जाते हैं—

...मैं भूख के सबसे अंदरूनी इलाकों में
एक शहर की लाचारी पढ़ रहा हूँ
मैं नश्वर
पर मैं ही दर्ज करता हूँ
सभ्यता के तहखानों में अपने घाव
...मैं ही जले रह गए मकानों के भीतर एक बचा रह गया सपना...
(दोस्त जो एक दूसरे शहर से आया था)।

ईश्वर और अनश्वर जैसे शब्दों का प्रयोग विजय कुमार भी करते हैं पर जिस पीड़ा में डूबकर वे उन्हें उच्चारित करते हैं कि उनके अर्थ बदल जाते हैं जब वे कह रहे होते हैं कि मेरा चेहरा ईश्वर की तरह हो जाता है तो वे खुद की लाचारी को ही सामने रख पा रहे होते हैं पर उसे ओढ़ते हुए नहीं उघाड़ते हुए उनकी निरीहता को जैसा कि कभी शमशेर ने किया था—'ओ माँ/मुझे भगवान दिए/कई-कई/मुझसे भी निरीह, तुझसे भी निरीह।' विजय कुमार उस ईश्वर की पहचान करते हैं जिनकी अनुकंपा दिन के लाचार बनाते समय में अनुपस्थित रहती है। विजय कुमार के यहाँ भी अनश्वर है कुछ/वहाँ 'अनश्वर केवल आधी रात की ठिठुरन' है।

अपनी बुनावट में विजय कुमार की कविताएँ आलोक धन्वा के निकट पड़ती हैं। आलोक की तरह ही वे अपनी आत्मीयता में पाठकों को अपने साथ लेती चलती

हैं। आलोक की तरह छोटी-सी बात का विशाल प्रचार करने से विजय कुमार भी नहीं चूकते, क्योंकि उस 'छोटी-सी बात' 'सबसे मामूली इच्छाओं' में ही बचा रहता है प्रेम या जीवन—

प्यार खत्म नहीं होता
इसे सार्वजनिक घोषणा की तरह लिखा जाना चाहिए
इसे गाना चाहिए
उन रास्तों पर
जहाँ यातायात अवरुद्ध है...।

धूमिल-आलोक धन्वा के संग्रहों के बाद एक महत्त्वपूर्ण कविता-संग्रह है 'रात-पाली।' इसमें अभिव्यक्त बेचैनी भाषा के छद्म आवरणों को तोड़ती अपने निखालिस रूप में हतप्रभ करती सामने आती है। कई मायनों में ये कविताएँ आलोक के सम्मोहन को तोड़कर आगे बढ़ती हैं, क्योंकि आलोक की तरह विजय कुमार को पीड़ा को उत्सवता में बदलने की जरूरत नहीं पड़ती, ना वे रेटॉरिक का अनावश्यक प्रयोग कर समाँ बाँधने की कोशिश करते हैं, बल्कि अपने आँसुओं और पसीने से ही वे अपनी उम्मीद का चेहरा साफ कर डालते हैं। उन्हें नया जन्म देते हैं। आलोक जिसे भाषा और लय के बिना केवल अर्थों में घटित चीख कहते हैं, उसे विजय कुमार ज्यादा संपूर्णता में अभिव्यक्त कर पाते हैं। ये कविताएँ मुक्तिबोध की खो गई पुकार की खोज हैं।

•

विस्थापितों के दर्द की पुनर्रचनाएँ

'आम का पेड़' कविता से आलोक धन्वा के कविता-संग्रह 'दुनिया रोज बनती है' का आरंभ होता है। पटना में आलोक जहाँ रहते हैं, वर्षों से वहाँ घर के ठीक सामने यही दो-तीन साल पहले तक आम के कई पेड़ थे, जो अब नहीं रहे। एक अपार्टमेंट खड़ा हो चुका है वहाँ।

दरअसल जब आम के पेड़ का वहाँ होना संभव नहीं रहा, तो वह आलोक की कविता में आ खड़ा हुआ, पहले पन्ने पर। आलोक ना जाने कितनी बार कितने लोगों से उन पेड़ों के नहीं रहने का दुख व्यक्त कर चुके हैं। पेड़ों के रहते वे दिल्ली जाने की सोच भी नहीं पा रहे थे। पर उनके कटने के साथ जैसे उनकी जड़ें कट गईं।

यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि जब-जब किसी समाज, व्यक्ति, प्रकृति या स्थान का उसकी पूरी गरिमा के साथ हमारे समय में होना असंभव हुआ है, आलोक की कविताओं में उनका होना संभव हुआ है। 'जनता का आदमी', 'भागी हुई लड़कियाँ', 'ब्रूनो की बेटियाँ', 'पतंग' से 'सफेद रात' तक यही आलोक की कविता का मर्म है।

और यह दर्द भी है कवि का। जिस तरह उनकी कविताओं में निर्वासित और नष्ट होती स्थितियों की पुनर्रचना होती है, वह खुद के साथ भी घटित होता है। कविता की दुनिया में अपनी सहज लोकप्रियता के बाद भी कवि एक निर्वासन झेलता है। पर वह हारता नहीं, रचना के स्तर पर उसका संघर्ष जारी रहता है। कवि की सहज लोकप्रियता को दशकों तक अनदेखा करने वाले आलोचक नंदकिशोर नवल को भी अपनी अब-तक की नासमझी को मंच से सार्वजनिक करते हुए आलोक के लिए नई परिभाषा गढ़नी पड़ती है। पटना की एक गोष्ठी में नवल जी को इजहार करना पड़ता है कि आलोक की कविता आलोचना से आगे है।

वस्तुतः आलोक की कविता, कविता के साथ समय की आलोचना भी है। जो प्रकारांतर से एक स्पष्ट विचारधारा को सामने लाती है, जिसके तार उनकी सारी कविताओं से जुड़े हैं।

अब मेरी कविता एक ली जा रही जान की तरह बुलाती है भाषा और लय के बिना, केवल अर्थ में–

यह जो 'भाषा और लय के बिना' बुलावा है केवल अर्थ में, यह वही व्याकुल पुकार है जो मुक्तिबोध के यहाँ कहीं खो गई है–

मुझे पुकारती हुई
पुकार खो गई कहीं

'जनता का आदमी' से 'आम का पेड़' और 'सफेद रात' तक कहीं भी विचारधारा से विचलित नहीं हुए हैं आलोक धन्वा। आत्मनिर्वासन झेलते हुए एक निर्वासित पीढ़ी का दर्द रचा है कवि ने।

यह जो अकेलापन है और भटकाव है और दर्द-भरा जीवन है स्त्रियों का, यही आलोक की कविताओं का वैभव है। 'चौक' कविता में आलोक लिखते हैं–

उन स्त्रियों का वैभव मेरे साथ रहा
जिन्होंने मुझे चौक पार करना सिखाया।

स्त्रियों के उस वैभव को 'सफेद रात' में याद करते आलोक लिखते हैं–

अब उसे याद करोगे
तो वह याद आएगी
अब तुम्हारी याद ही उसका बगदाद है
तुम्हारी याद ही उसकी गली है उसकी उम्र है
उसका फिरोजी रूमाल है

आलोक धन्वा की कविता एक बड़ी हद तक अंधविश्वासी होते समाज में निर्वासन झेलती एक वैज्ञानिक विचारधारा की भी पुनर्रचना है। 'जनता का आदमी' से 'सफेद रात' तक यही तो किया है कवि ने। फाँसी के तख्ते की ओर बढ़ते हुए भगत सिंह के सबसे मुश्किल सरोकार पहचाने हैं आलोक धन्वा ने; कभी भी युद्ध सरदारों का न्याय नहीं स्वीकारा है। मुश्किल सरोकारों की यह पहचान आलोक की विचारधारा की भी पहचान है। 'सफेद रात' में वे लिखते हैं–

जब भगत सिंह फाँसी के तख्ते की ओर बढ़े
तो अहिंसा ही थी
उनका सबसे मुश्किल सरोकार
अगर उन्हें कबूल होता
युद्ध सरदारों का न्याय
तो वे भी जीवित रह लेते

सोवियत संघ जब टूटा, तो साहित्य में तंबू-कनात समेटकर, मसीजीवियों की जमात ने अपना धर्मांतरण कर डाला और बाजार की 'पारचूनी' सभ्यता का गीत गाने लगे। हाइटेक पर टिके ग्लोबलाइजेशन के प्रति जो एक अंधविश्वास पिछले सात-आठ सालों से अपनी 'मन-मोहनी' छटा दिखा रहा है, उसने आलोक को भी

कम विचलित नहीं किया। इसके बावजूद उन्होंने उसे साफ शब्दों में 'लुटेरों' के 'बाजार के शोर' के रूप में पहचाना।

आलोक की सारी कविताएँ एक वैज्ञानिक विचारधारा के निर्वासन के दर्द की पुनर्रचनाएँ हैं। 'अमानवीय चमक के विरुद्ध' वे अपना संघर्ष 'जनता का आदमी' कविता से आरंभ करते हैं। इसमें 'तेज आग और नुकीली चीखों के साथ/जली हुई औरत के पास' सबसे पहले अपनी कविता के पहुँचने की घोषणा वे करते हैं। 1972 की इस घोषणा के बाद 'भागी हुई लड़कियाँ' और 1989 में 'ब्रूनो की बेटियाँ' में स्त्रियों की वैसी ही दास्तान वे पुनर्रचित करते हैं। फिर अपनी अंतिम कविता 'सफेद रात' में भी वे उसी नष्ट कर दी गई स्त्री की स्मृति रचते हैं।

वे पूछते हैं इस अमानवीय समाज से कि 'क्या वे एक ऊँट बना सकते हैं? एक सोता, एक गली और गली में सिर पर एक फिरोजी रूमाल बाँधे एक लड़की, जो फिर कभी उस गली में नहीं दिखेगी।' क्या अब भी संदेह रह जाता है कि 'जनता का आदमी' की जली औरत से लेकर 'सफेद रात' की इस फिर कभी नहीं दिखने वाली लड़की तक आलोक धन्वा दलित, निर्वासित आधी आबादी के संघर्ष की ही पुनर्रचना कर रहे होते हैं। बार-बार हमारे समाज में अपनी घरेलू जिंदगी में ही एक निर्वासन जी रही औरतों को याद करना और उसके बाहर भी उसी की पीड़ा को रेखांकित करना क्या है? ऐसे में जब उन्हीं का एक समकालीन कवि स्त्री को हल्दी और धनिए की गंध से सना महसूसता है, आलोक उसके जलाए जाने से पीड़ित दिशाओं को लेकर परेशान रहते हैं।

विचारधारा की साफगोई के लिए हम उनकी 72 से 97 के बीच की 89 की कविता 'ब्रूनो की बेटियाँ' को ले सकते हैं। यह आलोक की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कविता है। यह कविता श्रम और अभिव्यक्ति के अन्वेषण की स्वतंत्रता को अपना केंद्रीय विषय बनाती है। कविता के शीर्षक में ही सत्य की खोज के लिए दंडित वैज्ञानिक ब्रूनो को आधार बनाया गया है। और कविता का अंत 'रानियों की स्मृति तक के मिट जाने' की घोषणा 'और क्षितिज तक फसल काट रही औरतों' की अपराजेयता को दर्शाने के साथ होता है।

इस कविता में विचार को लेकर अपनी पक्षधरता को कवि प्रचार की हद तक ले जाता है, फिर भी कविता के कलेवर पर इसका कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता—

वे इतनी सुबह काम पर आती थीं
उनके आँचल भीग जाते थे ओस से
और तुरंत डूबे चाँद से।
वे किस देश के लिए आती थीं इतनी सुबह?
क्या वे सिर्फ मालिकों के लिए
आती थीं इतनी सुबह।

क्या उनका इतनी सुबह आना
सिर्फ अपने परिवारों का पेट पालना था?
कैसे देखते हो तुम इस श्रम को?

'जनता का आदमी' में कवि जिस विचारधारा को एक फंतासी की तरह रचता है वह 'ब्रूनो की बेटियाँ' में एक स्पष्ट विचार के रूप में सामने आता है।

कविता की एक महान संभावना है यह
कि वह मामूली आदमी अपनी कृतियों को
महसूस करने लगा है
अपनी टाँग पर टिके महानगरों और
अपनी कमर पर टिकी राजधानियों को
महसूस करने लगा है वह

इस तरह यहाँ 'जनता का आदमी' में जो महान संभावना है और जिसे शिद्दत से महसूसता है कवि, वह 'ब्रूनो की बेटियाँ' में संभावना से आगे विचार बन चुका होता है और कवि उसे महसूस करने के आगे प्रचार करने की स्थिति तक ले आता है। वह लिखने लगता है—

बातें बार-बार दुहरा रहा हूँ मैं
एक साधारण-सी बात का विशाल प्रचार कर रहा हूँ
मेरा सब कुछ निर्भर करता है
इस साधारण-सी बात पर!
वह क्या था उनके होने में
जिसे जला कर भी
नष्ट नहीं किया जा सका!

यहाँ स्पष्ट है कि यह जो साधारण-सी बात है, जिसके चलते वे श्रमिक स्त्रियाँ जला दी जाती हैं, वह 'श्रम के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत' के तहत अपना हक माँगने की बात है।

आलोक धन्वा पर बोलते हुए नंदकिशोर नवल ने कहा था कि विचारधारा को लेकर अच्छी कविता नहीं लिखी जा सकती। और मुक्तिबोध को उन्होंने एक अपवाद बताया था, जो विचारधारा की स्पष्टता के बावजूद महान कवि हुए। नवल जी आलोक को विचारधारा की प्रमुखता का कवि मानने से इंकार करते हैं। पर मेरा स्पष्ट मत है कि आलोक मुक्तिबोध के बाद दूसरे अपवाद हैं और विनोद कुमार शुक्ल से लेकर ज्ञानेंद्रपति, ऋतुराज, कुमार विकल और वीरेन डंगवाल तक अपवादी कवियों की एक पूरी जमात है। और, संभव है वह अपवादी जमात ही भविष्य में दूसरी परंपरा को सामने लाए।

यहाँ स्पष्ट कर दूँ कि विचारधारा से मेरा मानी किसी पार्टी लाइन से नहीं,

बल्कि जीवन को अनुशासित करने वाली विवेकपूर्ण दृष्टि से है। इस माने में महान पुर्तगाली कवि 'फरनान्दो पैसोआ' की परिभाषा बहुत साफ है। वे लिखते हैं, "मैं तो कहूँगा कविता विचारों से, और इसलिए शब्दों से बना संगीत है। सोचकर देखो। भावों के विपरीत विचारों से संगीत बनाना कैसा होगा? भावों से सिर्फ संगीत बन सकता है। उन भावों से जो विचारों की ओर मुड़ जाएँ, उन्हें इकट्ठा परिभाषित करने के प्रयास से गीत बनाए जाते हैं। खालिस विचारों से, जिनमें न्यूनतम (यानी कि जितने आवश्यक रूप से होते हैं।) भाव हों, कविताएँ बनती हैं। कविता जितनी भावहीन होती है उतनी सच्ची होती है।" आत्म परिचय में भी पैसोआ लिखते हैं, "कविता के अनैच्छिक मुखौटों के पीछे मैं एक विचारशील व्यक्ति हूँ।"

मैं यह नहीं कहता कि विचारधारा कविता का प्राण होती है। पर उसकी रीढ़ जरूर होती है, जिसकी बिना पर वह जीवित होने से आगे चल सकती है। कविता को उसकी जड़ सौंदर्याभिरुचि से आगे विचारधारा ही ले चलती है। भाव कविता के प्राण होते हैं, पर उन पर आप अपना "सबकुछ निर्भर नहीं कर सकते"। भाव संचरणशील होते हैं उनकी टेक विचारधारा ही बनती है।

व्यक्ति आत्महत्या तब करता है, जब उसका दिमाग और विचारधारा बाधित होती है और वह दिल के आवेग के वश में आ जाता है। आलोक चेतावनी देते हैं कि कवि के बारे में यह भ्रांति नहीं रहे। अगर कभी अघट घटे, तो उसकी दिल से जोड़कर भावुक व्याख्या ना हो। लगता है कवि को मायकोवस्की से मारीना तक की आत्महत्याओं ने परेशान किया होगा। अपने कमजोर-से-कमजोर क्षण में ही तब उसने 'फर्क' जैसी कविता लिखी होगी–

तुम यह मत सोचना
कि मेरे दिमाग की मौत हुई होगी
हत्याएँ और आत्महत्याएँ
एक जैसी रख दी गई हैं
इस आधे अँधेरे समय में
फर्क कर लेना साथी!

यहाँ कवि दिमाग की मौत पर विश्वास नहीं करने की बात करता है। यहाँ दिमाग विचारधारा का पर्याय है। जो लोग आलोक को क्रांतिकारी रोमानियत का कवि बताना चाहते हैं उनके लिए यह दिमाग चेतावनी है। कवि मरने के बाद अपनी समझदारी के स्तर पर कोई छूट नहीं देना चाहता व्याख्याकारों को। इसलिए वह अपने दिमाग के विचार के साथियों को सचेत करता है कि ऐसे किसी धोखे के प्रति, जो चाहे कवि को माध्यम बनाकर या उसकी मौत का सहारा लेकर ही आएँ उसके फेरे में नहीं पड़ें।

दिमाग के अलावे दिल की बात भी करते हैं आलोक। रोमान है यहाँ, पर

उसकी सीमा है। रोमान उन्हें अच्छा लगता है, पर उसमें वे 'अपना सब कुछ निर्भर' नहीं करते। आलोक लिखते हैं–

मीर पर बातें करो
तो वे बातें भी उतनी ही अच्छी लगती हैं
जितने मीर
और तुम्हारा वह कहना सब
दीवानगी की सादगी में
दिल-दिल करना

यहाँ दीवानगी है पर उसकी सादगी भी है, जो उसके रोमानी पहलू की जगह जहनपरक सच्ची तबीयत की वकालत करती है। मीर की यह तबीयत ही गालिब के यहाँ उनका अंदाजे-बयाँ है, जिसके तहत गालिब अपनी प्रेयसी के पाँव चूमते-चूमते रुक जाते हैं–

ले तो लूँ सोते में उसके पाँव के बोसे मगर
ऐसी बातों से, वह काफिर बदगुमाँ हो जाएगा

यहाँ गालिब का दिमाग दिल की कार्यवाइयों के प्रति सचेत है। एक अन्य शेर में गालिब लिखते हैं–

रोने से और इश्क में बेबाक हो गए
धोये गए हम ऐसे कि बस पाक हो गए

आलोक के यहाँ गालिब की, मीर की यही दीवानगी की सादगी है, जो (पारम्परिक उर्दू शायरी की तरह खाक नहीं) पाक करती है। 'भागी हुई लड़कियाँ' में आलोक भी लिखते हैं–"तुम नहीं रोए किसी स्त्री के सीने से लगकर"

'कामायनी : एक पुनर्विचार' में मुक्तिबोध लिखते हैं, "यह बहुत ही संभव है कि यथार्थवादी शिल्प के विपरीत जो भाववादी शिल्प है, उस शिल्प के अंतर्गत जीवन को समझने की दृष्टि यथार्थवादी हो।"

आलोक धन्वा के साथ ऐसा ही है। आलोक के पहले केदारनाथ सिंह के यहाँ भी भाव और यथार्थ का ऐसा संतुलन मिलता है। केवल 'बाघ' में वे यह संतुलन नहीं साध पाते। विचारधारा की टेक भी केदारजी के यहाँ गायब-सी है। छोटी कविताओं में तो केदार जी इसके बिना काम चला ले जाते हैं, पर 'बाघ' के सारे खंड इस लय को नहीं पैदा कर पाते जो केदार जी की पहचान है। आलोक भी अपनी कविता 'पानी' में 'बाघ' वाली गलती दुहराने की कोशिश करते हैं। वे संतुलन नहीं साध पाते, इसलिए अगर 'बाघ' में ट्रैक्टर मटर का दाना लगता है तो 'पानी' में आलोक पानी को आदमी की तरह बसाना चाहते हैं, पर आलोक की अधिकांश कविताओं में यह संतुलन अपूर्व है।

आलोक के समकालीनों में यह संतुलन 'पाश' के यहाँ मिलता है, पर पाश

का शिल्प उनकी दृष्टि पर हावी है। हिन्दी में कुमार विकल के यहाँ यह शैली है। संग्रह की दूसरी कविता 'नदियाँ' 96 की है। इसमें नदियों का नाम गिनाते कवि अपनी तकलीफ बताता है कि कैसे जीवन की ये धाराएँ समय की आपाधापी में कवि के परिवेश से दूर-दूर चली गई हैं। कभी उनसे मुलाकात भी होती है राह चलते, तो सहजता से जुड़ नहीं पाता कवि और वह स्वीकारता है कि उसका दिमाग तो भरा रहता है लुटेरों के बाजार के शोर से। बाजार की पहचान तो है पर, उससे लड़ने की उस इच्छाशक्ति का अभाव है कवि में, जो ऐसे मामलों में उसके अग्रज कवि विनोद कुमार शुक्ल में दिखाई पड़ती है। अपनी एक कविता में शुक्ल लिखते हैं–

''जो मेरे घर कभी नहीं आएँगे
मैं उनसे मिलने / उनके पास जाऊँगा
एक उफनती नदी कभी नहीं आएगी मेरे पास
नदी जैसे लोगों से मिलने
नदी किनारे जाऊँगा
कुछ तैरूँगा और डूब जाऊँगा''

यहाँ विचारधारा की जैसी भी पहचान है शुक्ल जी के यहाँ उसके प्रति प्रतिबद्धता उससे ज्यादा है और अपना कवियोचित अहम त्याग कर शुक्ल जिस तरह जनता के साथ खुद को एक करते हैं वही उन्हें हिंदी कविता की पहली पंक्ति में खड़ा कर देता है।

निर्वासन के दर्द की पुनर्रचना के साथ जो आलोक की सबसे बड़ी खूबी है वह दृश्यों का उसके लय-रूप-गंध-स्पर्श के साथ बहुआयामी अंकन है। 'पतंग' और 'सफेद रात' कविता में कवि की यह बहुआयामी कला प्रखर रूप में है–

''धूप गरूड़ की तरह ऊपर उड़ रही हो या
फल की तरह बहुत पास लटक रही हो–
हलचल से भरे नींबू की तरह समय हरदम
उनकी जीभ पर रस छोड़ता रहता है''

'पतंग' की इन कविताओं में कवि की बहुतलस्पर्शी और वैज्ञानिक दृश्यांकन क्षमता को उसकी पूरी सजीवता में अभिव्यक्ति पाते देखा जा सकता है। आखिर उड़ता गरूड़ और लटकते फल सूर्य की ऊर्जा के ही अन्य गतिशील स्वरूप हैं। नींबू में भी सूर्य रश्मियों की ही हलचल भरी है और बच्चे भी उसी ऊर्जा के स्रोत हैं, जिससे हमारा जीवन जीवंत होता है।

'पतंग' में जहाँ बाजार और विज्ञान के हाइटेक के दवाव में लगातार जीवन से निर्वासित होते बच्चों की जिजीविषा और प्रस्फुटन का अंकन है, वहीं 'सफेद रात' में ग्लोबलाइजेशन की छद्म आधुनिकता के जंजाल में मरते, निर्वासित होते दुनिया के गाँवों, कस्बों, नगरों और मुल्कों की पीड़ा है–

क्या वे सभी अभी तक बचे हुए हैं
पीली मिट्टी के रास्ते और खरहे
महोगनी के घने पेड़
तेज महक वाली कड़ी घास
देर तक गोधूलि ओस
रखवारे की झोंपड़ी और
उसके ऊपर सात तारे...
...शहर में बसने का क्या मतलब है
शहर में ही खत्म हो जाना?
...हम कैसे सफर में शामिल हैं
कि हमारी शक्ल आज भी विस्थापितों जैसी
सिर्फ कहने के लिए कोई अपना शहर है
कोई अपना घर है
इसके भीतर भी हम भटकते ही रहते हैं

केदारनाथ सिंह, आलोक धन्वा विस्थापन का दर्द झेलते हुए अपनी संवेदना का आधार गाँवों और बचपन की स्मृतियों को बनाने वाले कवि हैं। दूसरी ओर उनके ही समकालीनों में रघुवीर सहाय की कविता पीढ़ी है, असद जैदी की, जो इन स्मृतियों से वंचित नागरी संवेदना के कवि हैं। आलोक धन्वा के संग्रह की इस अंतिम कविता 'सफेद रात' में विस्थापन और निर्वासन की पीड़ा अपनी पूरी द्वंद्वात्मकता के साथ है। यह बहुसंख्यक आवादी की पीड़ा है।

पर सवाल है कि इस राह माँगने को हमें कौन प्रवृत्त करता है। कौन हमें हमारी जड़ों से काटता है। यह भी हम ही हैं। यही तो द्वंद्व है कि, ''हम कैसे सफर में शामिल हैं?'' यह आत्मनिर्वासन की भी पीड़ा है। प्रेम में भी करीब ऐसा ही निर्वासन हमारी सभ्यता हमें देती है, जिसके दर्द से उर्दू शायरी का पूरा मिजाज बना है।

'सफेद रात' अपनी धरती, अपने वतन से बलपूर्वक बेदखल और निर्वासित कर दिए गए लोगों की भी पीड़ा है। उस पीड़ा के तार भारत-पाक-बंगलादेश के बँटवारे से भी जुड़ते हैं।

कवि का युद्ध आत्मनिर्वासन को परनिर्वासन में बदल डालने वाले स्वयंभू युद्ध सरदारों से भी है। जो अपनी कुंठा की रौ में पूरी दुनिया को गारत करने पर तुले हैं–

क्या है इस पूरे चाँद के उजाले में
इस बिखरती हुई आधी रात में
जो मेरी साँस
लाहौर और कराची और सिंध तक उलझती है?
पूछो युद्ध सरदारों से

इस सफेद हो रही रात में
क्या वे बगदाद को फिर से बना सकते हैं?

क्या कल भारत-पाक भी बगदाद में तब्दील नहीं होने जा रहे हैं, इन युद्ध सरदारों के न्याय के चलते।

आलोक धन्वा की छोटी-सी एक कविता है 'हसरत', जिसे पढ़ते अज्ञेय की कविता 'हम नदी के साथ-साथ' याद आती है। आलोक लिखते हैं—

जहाँ नदियाँ समुद्र से मिलती हैं
वहाँ मेरा क्या है
मैं नहीं जानता
लेकिन एक दिन जाना है उधर...

दूसरी ओर 'हम नदी के साथ-साथ' कविता में अज्ञेय लिखते हैं—

हम नदी के साथ-साथ
सागर की ओर गए
पर नदी सागर में मिली
हम छोर रहे...

अज्ञेय अपनी कविता में आलोक वाली हसरत पूरी भी कर लेते हैं तो क्या? उनकी गाँठ कहाँ खुलती है? आलोक को वहाँ अपना कुछ लगता है। यह दरअसल मानव रक्त में बसी आदिम प्राकृत चेतना है। आदमी मछली से विकसित हुआ है और पानी-नदी-समुद्र से उसका लगाव उसी आदिम सुसुप्त स्मृति की फॉसिल पुनर्रचना है। जैसे पहाड़ों में डायनासोर के फॉसिल मिलते हैं, उसी तरह ये आदिम लगाव हमारी स्मृतियों के फॉसिल हैं, जिनका होना हममें जिज्ञासा पैदा करता रहता है।

स्त्री के सामर्थ्य की विकासमानता

लीलाधर जगूड़ी की 'मंदिर लेन' और आलोक धन्वा की 'ब्रूनो की बेटियाँ' हिन्दी की चर्चित कविताओं में हैं। श्रीकांत वर्मा की ऐतिहासिक-राजनीतिक कविताओं के बाद रघुवीर सहाय की समकालीन राजनीतिक कविताओं ने साहित्य की दुनिया को काफी प्रभावित किया। सहाय की राजनीतिक कविताओं में जो राजनीतिक संदर्भ बिखरे पड़े हैं, वे जैसे जगूड़ी की 'मंदिर लेन' में संगठित होकर उसे धारदार बनाते हैं। 'ब्रूनो की बेटियाँ' के संदर्भ भी राजनीतिक ही हैं, पर वह अपेक्षाकृत घटना केंद्रित कविता है। 'मंदिर लेन' की धार जहाँ तलवार की धार है, 'ब्रूनो की बेटियाँ' की धार एक पंखुड़ी की धार है।

दोनों कविताएँ मानव-जीवन की मार्मिक विडंबनाओं पर आधारित हैं। जगूड़ी के यहाँ यथार्थ का तीखापन है, तो आलोक के यहाँ करुणा की नमनीयता है। 'ब्रूनो

की बेटियाँ' शीर्षक से ही कविता के मूल स्वर ध्वनित होते हैं। ब्रूनो को उसकी वैज्ञानिक खोज के लिए सत्ता के कोप का शिकार होना पड़ता है। अपनी सच्चाइयों के लिए जिंदा जला दी जाने वाली स्त्रियों को कवि ब्रूनो की बेटियों के रूप में देखता है। कवि जानना चाहता है कि क्या सत्य के उद्घाटन के लिए ब्रूनो, गैलीलियो से इन स्त्रियों तक के लिए आज भी सत्ता प्रतिष्ठान की क्रूरता वैसी ही पूर्ववत् है। क्या आदिम साम्यवाद से राजतंत्र और इस उदार लोकतंत्र तक सब सभ्यता के मुखौटे हैं। सवाल नया नहीं है। धूमिल ने भी यह सवाल उठाया था। आलोक भी उस तीसरे आदमी की ही बात करते हैं। जो रोटी से खेलता है, स्त्रियों के अस्तित्व से खेलता है। यह खेल बीसवीं सदी में आज भी जारी है, उस देश के सामने जहाँ संसद लगती है। सच के साथ उसके उद्घाटनकर्ता को बचा लेने की बेचैनी से ही यह कविता पैदा होती है। कविता में संवेदना की मार्मिकता की बनावट रूसी कवि आंद्रे बोजनेसकी की स्त्री संबंधी कविता की याद दिलाती है। वहाँ भी कोई एक स्त्री को बूटों से कुचल रहा है। वहाँ दर्द गहरा है, आलोक के यहाँ एक रोमान है, जो मर्म को उत्सवी बना देता है। 'पतंग' कविता में भी वह इसी तरह क्रांतिकारी रोमान की शरण लेते दिखते हैं, जब वे लिखते हैं कि बच्चों को मारनेवाले शासकों, तुम्हें बर्फ में फेंक दिया जाएगा और तुम्हारी बंदूकें भी बर्फ में गल जाएँगी। बेचैनी जब बढ़ती है और हल नहीं मिलता, तब आलोक रोमान की शरण लेते हैं। ऐसा रोमानी वृत्ति और यथार्थ से दूरी के कारण भी होता है। बच्चों और स्त्रियों से नजदीकी संबंधों का अभाव भी यह रोमानी प्रवृत्ति दर्शाता है।

'ब्रूनो की बेटियाँ' का महत्त्व न तो इसकी मार्मिकता को लेकर है, न लय को लेकर, इसकी अहमियत इस मानी में है कि यह कविता पहली बार स्त्री के श्रम और सामर्थ्य को उसकी विकासमानता में प्रस्तुत करती है। रघुवीर सहाय के यहाँ स्त्री का फुटकर दर्द है, तो गगन गिल, असद के यहाँ विगलित रोमानी करुणा; विमल कुमार के यहाँ यह सब रहस्य के झीने आवरण में छिपा है, पर आलोक के यहाँ उसके सामर्थ्य का सौंदर्यबोध है।

कविता की शुरुआत जीवन में स्त्री के उपेक्ष्य श्रम की भूमिका और उसके अस्तित्व के विडंबित अस्वीकार से होती है। आखिर क्या मजबूरी थी कि हत्यारों को अपने सहज संबंधों को ही जला देना पड़ा। कैसे तुच्छ हित थे उनके। सभ्यता के इस पड़ाव पर भी हम स्त्री-श्रम की स्वतंत्र भूमिका क्यों नहीं स्वीकारते। उनके श्रम की कीमत गैलीलियो की दूरबीन की कीमत क्यों हो जाती है।

श्रम के कालातीत सौंदर्य की ऐसी सहज, भव्य अभिव्यक्ति हिंदी-कविता में कम ही मिलती है। परंपरा में शमशेर और केदारनाथ सिंह ही इसे साध पाते हैं। आगे कविता में घटना का विवरण मिलता है, जिसे रेटारिक के इस्तेमाल से रोचक बनाया गया है। पहले कवि मातृत्व के निर्जन शिकार पर द्रवित होता है, फिर समाज

के वहशी व अर्थशास्त्रियों से सवाल करता है। उन्हें चुप करा देता है। असल में वह वहशी व अर्थशास्त्री कवि के भीतर भी छिपे हैं, जिनसे एकालाप कर वह उन्हें आसानी से चुप करा देता है। मुक्तिबोध की तरह कविता के बाहर हर मोरचे पर उनसे लोहा लेना सबके लिए संभव नहीं। ऐसे में कविता के सौंदर्य-तत्त्व के नष्ट होने का भी भय होता है। जीवन के अँधेरों में जाने का खतरा कौन उठाता है। अँधेरे का अपना तिलिस्म होता है, अपनी घुटन होती है। उसे तोड़ने में आदमी टूट जाता है। उसके सिजोफ्रेनिया जनित मनोविकार के शिकार होने का भय होता है। 'ब्रूनो की बेटियाँ' में एक उजाला है, टूटन की कुंठा यहाँ नहीं है। मुक्तिबोध की तरह कुंठा को भी सौंदर्यबोध के घेरे में अभी शामिल नहीं किया जा सका है। जीवन की कचोट और कुंठाओं से रघुवीर सहाय भी खुद को अमीर बनाते हैं। पर उसे उसकी आत्मवक्तव्यता से मुक्त कराकर सहज, सच्चे ढंग से मात्र शमशेर ही अभिव्यक्त कर पाते हैं। अभाव के व्यंग्य से जूता चबाते कुत्ते के रूप में अपने हवाई नुकीले दाँत मात्र वही दिखा पाते हैं। इस सबके बावजूद वे सौंदर्यबोध बचाए रख सके हैं। आलोक के यहाँ दर्द तुरंत उत्सवता में बदल जाता है। वह अपने हवाई नुकीले दाँत छुपा ले जाते हैं।

जीवन में श्रम की भूमिका और उसका विकास आगे कविता में फिर साधा गया है। यही एक चीज कविता को समय से आगे ले जाती है। उसी तरह जैसे 'मुक्तिप्रसंग' का अंतरद्वंद्व, 'मोचीराम' का आत्मालोचन और 'मंदिर लेन' की तलवार की धार उसे अपने समय से आगे ले जाती है। श्रम संबंधों की जटिलता को उसके बहुआयामों के साथ प्रस्तुत करना, यही इस कविता का दाय है। श्रम की सभ्यता को यह कविता नए सिरे से रेखांकित करती है। और तमाम सभ्यताओं के विरुद्ध इसे आधार देती है। स्त्री के श्रम की सभ्यता पर जो दुनिया-भर में एक सी है, कविता में ढंग से विचार किया गया है। उसे पहली बार जमीन मिलती है। कवि कुँओं के जगत पर घड़ों के रखने से बने निशान देखता है। बाँध की ढलान पर टिकाए पत्थर देखता है। वह बतलाता है कि वह अचानक कहीं से नहीं, नील के किनारे-किनारे चलकर वहाँ तक पहुँची हैं। उनके घरों में पालने और केश बाँधने के रंगीन फीते हैं, तो साँप मारने की बरछी भी। ये पंक्तियाँ बताती हैं कि उनके जीवन का भी एक सभ्य क्रम है। वह कोई हड़बड़ी में जी गई आवारा ज़िंदगी नहीं है। वहाँ जीवन की सरसता, समरसता भी है; जीवन का स्वीकार है, तो विकृतियों का प्रतिकार भी; उनके आँगन में उड़ते तिनकों को चिड़िया उड़-उड़कर पकड़ती है, तो उनके रास्तों को रूढ़ियों की बिल्लियाँ काटती भी हैं। यहाँ कवि पुनः पूछता है कि कौन मक्कार उन्हें जंगल की तरह दिखाता है, कैमरों से रंगीन परदों पर। कवि का अनजानापन यहाँ भी समझ से परे है, कवि मीडिया की अपसंस्कृति से अपरिचित हो, ऐसा तो संभव नहीं। पर कुछ बाध्यताएँ हैं कवि की, जो जवाब को कवि से सवाल की तरह

पेश कराती हैं। अपने भीतर के अँधेरों में कवि झाँके, तो वे मक्कार उसे मिल ही जाएँगे। उन पर तर्जनी कवि नहीं उठाएगा, तो कौन उठाएगा?

विकृतियों से अनजानेपन की हद तक दूर सुरक्षित कवि एकालाप क्यों कर रहा है। उनसे संलाप किए बगैर श्रम की पुनर्जीवितता का उत्सव क्यों मनाने लगता है। सच का, श्रम का मूल्य माँगने वाला ब्रूनो से उसकी बेटियाँ तक आज भी इसीलिए मारी जा रही हैं, क्योंकि हत्यारों से संलाप की बजाय हम उनसे एकालाप करने लगते हैं।

उद्घाटित सच का तो हम अपने लिए उपयोग कर लेते हैं, पर सच के लिए अपना क्रूस ढोने वालों की पीड़ा को उत्सवता के अवलेह में लपेटकर धर्म की तरह उसका विशाल प्रचार करने लगते हैं। कवि की बेचैनी अपने अंदर के अँधेरे व द्वंद्व से निपट न पाने की असफलता से पैदा होती है। इसीलिए कवि का स्वर कभी तो करुणा से विगलित हो जाता है, कभी उत्सवता धारण करता है व कभी आँख मूँद अपनी काल्पनिक विजय को निर्णायक स्वर में प्रस्तुत करता है।

हल न ढूँढ पाने की स्थिति में कवि उदात्त प्राचीन प्रतीकों का सहारा लेता है व कविता सरलीकरण का शिकार होती है। इतने मार्मिक सवालों का जवाव कवि समेट लेता है कि जैसे पागल तोपों के मालिक मिट गए, जुल्म भी मिट जाएगा। जबकि 'जिलाधीश' कविता में कवि खुद बताता है कि राजा-रानी मिटे नहीं, वे आधुनिक शासकीय पदों में बदल गए हैं। उनकी शातिरी बढ़ गई है। पिछले दिनों रूस में जिस तरह संसद पर टैंकों से हमला किया गया वह राजतंत्र की ज्यादतियों से कमतर ज्यादतियाँ हैं। क्या संसद को घेर लेने वाली कैथर कला की औरतें ही क्षितिज तक फसल काटती औरतें हैं?

कविता में श्रम की कीमत तो बखूबी बता देता है कवि, पर श्रम की लूट को नष्ट करने का तरीका नहीं बतलाता। लूट पर सवाल उठा देना ही काफी नहीं है। अभिव्यक्ति के सवाल उठाने से उसके खतरे उठाने तक तो मुक्तिबोध ले जाते हैं कविता को। हमें उसे उसके आगे ले जाना होगा। इसीलिए साधारण-सी बात को विशाल प्रचार की जगह जीवन के छोटे-छोटे खतरों से निपटना ज्यादा जरूरी है। सवाल की एक उम्र होती है। उसके बाद वह जवाब नहीं बनता, तो समय उसे खारिज कर जवाब ढूँढ लेता है। रोमान भी एक वक्त के बाद दर्द की तरह दवा नहीं बनता, तो नष्ट हो जाता है।

दरअसल कविता यहीं समाप्त हो जाती है। यह बताकर कि उसके बेटे अभी जीवित हैं और आगे की लड़ाई वही लड़ेंगे, कवि नहीं।

•

परंपरागत अर्थों में बुरी कविताएँ

ओ माँ— मुझे भगवान दिये कई-कई
तुझसे भी निरीह, मुझसे भी निरीह!

अपनी इन कविता पंक्तियों पर टिप्पणी करते शमशेर लिखते हैं, 'भावुकता एक ऐसी पूँजी है कवि की कि इसको वश में रखना ही होगा। उससे काम लेना होगा, न कि उसकी रौ में बह जाना। लेकिन ज्यादातर तो मैं बह ही गया।' भावनाओं की बावत मुक्तिबोध ज्यादा कठोरता से पेश आते हैं— 'भावनाएँ बच्चा हैं/ अगर उन्हें आदमी नहीं बना सकते/ तो उन्हें मार डालो।'

यहाँ शमशेर व मुक्तिबोध दोनों ही भाव पर नियंत्रण की बात करते हैं। विष्णु खरे की कविताओं से गुजरते यह महसूस होता है कि उनकी कविताएँ करुणा की आत्मरतिक मुद्राओं से मुक्त होकर विवेकवान भावों की अभिव्यक्ति के लक्ष्य को प्राप्त करती हैं। निराला की कविता 'भिक्षुक' की खरे की कविता 'एक कम' से तुलना कर इस विकास को समझा जा सकता है। 'एक कम' में भिक्षुक को देख कवि का कलेजा दो टूक नहीं होता, बल्कि वह विचारता है कि इस तरह एक आदमी (भिक्षुक) जो हेराफेरी कर हर्षद मेहता या चंद्रास्वामी हो सकता था, या पॉकेटमार-बटमार हो सकता था, वह आपके सामने हाथ पसारकर ऐसे एक कुपात्र की संख्या कम कर रहा है। यहाँ दया का पात्र भिक्षुक नहीं, दाता हो जाता है। करुणा की जगह विवेक के प्रयोग से ही ऐसा संभव हो पाता है। खरे की अधिकांश कविताओं से गुजरने पर लगता है कि करुणा की विगलित लय से मुक्त होकर भी अच्छी कविता हो सकती है।

जिस तरह निराला ने कविता को छंदों से मुक्त किया, केदारनाथ सिंह ने उदात्तता से मुक्त किया उसी तरह एक हद तक रघुवीर सहाय ने और ज्यादा समर्थ ढंग से विष्णु खरे ने उसे करुणा की अकर्मण्य लय से मुक्त किया है, और कविता को बचा लिया है अस्तित्व के संकट से, और कवियों की बड़ी दुनिया के लिए नया प्रवेश द्वार खोल दिया है।

केदार जी के यहाँ करुणा की जगह अगर खुशी दिखाई देती है, रघुवीर सहाय

के यहाँ अगम्य-अवध्य आतंक, तो खरे के यहाँ क्षोभ और यथार्थ का स्वीकार मिलता है। पर रघुवीर सहाय की कविता जहाँ महानगर केंद्रित है और 'मैं' पन के बोझ से दबी है, वहाँ खरे की कविता महानगर से तो अपने पात्रों को उठाती है पर जब कविता पूरी होती है तो महानगर की जगह कविता में उठा विषय अस्तित्वमान हो उठता है। महानगर गौण होकर गायब-सा हो जाता है। यहाँ महत्त्वपूर्ण यह है कि इसके लिए ना तो उन्हें केदार जी की तरह मात्र स्मृतियों के सहारे रहना पड़ता है, ना वे संदर्भों का आधुनिक कवियों की तरह चौंकाने वाले ढंग से इस्तेमाल की प्रचलित चालाकी दिखलाते हैं। बल्कि विषयवस्तु से ऐसा गहरा लगाव (एंगेजमेंट) या प्रतिबद्धता वहाँ दिखती है कि एक दर्शक या प्रस्तुतकर्ता के रूप में कवि गायब-सा हो जाता है। खरे की अधिकांश कविताएँ रघुवीर सहाय के 'मैं' पन, जिसमें गवाह होने की ध्वनि गहरे तक सुनाई पड़ती है, से मुक्त रहकर भी समस्या को पाठकों के रूबरू खड़ा कर देती है, और कवि अनुपस्थित-सा हो जाता है। यही कारण है कि कुछ कविताओं को तो दुबारा पढ़ने की हिम्मत नहीं पड़ती। 'आग' एक ऐसी ही कविता है। जो रोज घटने वाली दहेज प्रताड़ना को लेकर है, पर उसे पढ़ने से लगता है कि अगर ऐसी घटना घट रही है और आप उसे जान रहे हैं तो या तो इस आग को बुझाने की कोशिश कीजिए या इस मुद्दे को प्रसंग से बाहर कीजिए। ऐसी कविताएँ 'कविता के लिए कविता' की सुविधा से हमें वंचित करती हैं।

इस मामले में ये कविताएँ परंपरागत रूप से अच्छी कविता होने की बजाय बुरी कविताएँ साबित होती हैं। क्योंकि ये अपने कष्ट में आपकी हिस्सेदारी माँगती हैं। ये स्त्रियों के जलाए जाने की पीड़ा को उत्सवता में नहीं बदल डालती हैं।

'उनकी हत्या की गई/ उन्होंने आत्महत्या नहीं की/ इस बात का महत्त्व और उत्सव/ कभी धूमिल नहीं होगा कविता में' (ब्रूनो की बेटियाँ— आलोक धन्वा)

इस मामले में मैं अपने ही आचरण से परेशान हूँ। क्योंकि 'ब्रूनो की बेटियाँ' मेरी प्रियतम कविताओं में है। खरे पर विचार करने पर लगता है कि क्या मुझे भी करुणा के महोत्सव में शामिल होना अच्छा लगता है। 'आग' को तो मैं मुश्किल से पढ़ सका। बेचैन-सा हो गया जैसे कविता नहीं पढ़ रहा होऊँ खुद जला रहा होऊँ या जलते देख रहा होऊँ। अब ऐसी कविता लोग बार-बार कैसे पढ़ सकते हैं। इस मामले में ये बुरी कविताएँ हैं कि ये परंपरागत रूप से अच्छी 'फिर से पढ़ो' वाले तर्ज पर पढ़ी जाने वाली कविताएँ नहीं हैं। बल्कि ये संवेदनशील पाठक को चुप करा देने वाली कविताएँ हैं। जैसे गोहत्या का पाप लगा हो। यह कहते मुझे डर लगता है कि ये कविताएँ हैं या श्राप, जो मेरी आँखों में आँखें डाल खड़ी हो जाती हैं।

'आग' के अलावे 'लड़कियों के बाप', 'जिल्लत', 'बेटी', 'हमारी पत्नियाँ', 'बच्चा', 'एक कम', 'साम्बवती' आदि ऐसी ही बुरी कविताएँ हैं, जो कहती हैं कि

अगर ये स्थितियाँ हैं और बुरी हैं, तो इसके कारक आप भी हैं। संभव हो तो इसे मिटाएँ, नहीं तो चर्चा कर उत्सव ना बनाएँ।

'लोग भूल गए हैं' की एक कविता 'अरे अब ऐसी कविता लिखो' में रघुवीर सहाय लिखते हैं–

अरे अब ऐसी कविता लिखो
कि कोई मूड़ नहीं मटकाय
ना कोई पुलक-पुलक रह जाय
ना कोई बेमतलब अकुलाय

सहाय की इस माँग को खरे की कविताएँ पूरी करती लगती हैं। 'रामदास' जैसी कविताओं में सहाय जी भी ऐसी कविता लिखने की कोशिश करते हैं। पर वे एक आतंककारी विवरण से आगे नहीं बढ़ पाते। खरे के यहाँ आतंक चुनौती की तरह सामने आता है।

नामवर सिंह ने अच्छे आलोचक के बारे में कहीं लिखा था कि उसकी पहचान इससे होती है कि वह कविता की किन पंक्तियों को उद्धृत करता है। पर इस अर्थ में विष्णु खरे को अच्छा आलोचक शायद कभी नहीं मिल पाएगा। क्योंकि उनकी अधिकांश कविताएँ भाषा संबंधी किसी भी रेटारिक, मुहावरे या पंक्तियों या पैरे को ज्यादा या कम प्रभावी बनाने के लिए किए गए चमत्कारों से मुक्त हैं। इस संदर्भ में मुक्तिबोध की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं कि–'यह सबके अनुभव का विषय है कि मानसिक प्रतिक्रिया हमारे अंतर में गद्यभाषा को लेकर उतरती है, कृत्रिम ललित काव्य-भाषा में नहीं। फलतः नई कविता का पूरा विन्यास-गद्यभाषा के अधिक निकट है।'

'सोनी', 'हर शहर में एक बदनाम औरत होती है', जैसी एकाध सामान्य कविताओं को छोड़कर अधिकांश का प्रभाव छायाचित्रों की तरह पड़ता है, जिनमें कुछ भी घटाया या बढ़ाया नहीं जा सकता। यहाँ ज्ञानेंद्रपति की बात महत्त्वपूर्ण लगती है कि– 'सच्ची कविता में स्थितियाँ, जिन्हें मानवीय संवेदना से निहारा जाता है, वे अपने प्रभावों में प्रतीक बन जाती हैं। उन्हें प्रतीक बनाने की सचेत कोशिश नहीं की जाती। बल्कि वे प्रत्यालोकन में प्रतीक बन जाती हैं।' रघुवीर सहाय यहीं कमजोर पड़ जाते हैं, उनके यहाँ निहारना कम देखना ज्यादा है। पर खरे के संदर्भ में यह निहारना भी काफी नहीं पड़ता। निहारना की जो एक रोमांटिकता है उसकी जगह एक गहरा व जटिल दायित्वबोध पैदा करते हैं वे। वह दो टूक कलेजे के नहीं करता, दो टूक पूछता है कि मैं हूँ यह आपके समक्ष, जो भी जैसा भी आपका जो उत्तरदायित्व बनता हो, वह पूरा करें।

पर निहारना के रागात्मक स्वरूपोंवाली अप्रतिम सौंदर्यबोध की कविताएँ भी खरे के पास हैं। लापता, अज्ञातवास, सत्य, द्रौपदी के विषय में कृष्ण आदि ऐसी

ही कविताएँ हैं। 'द्रौपदी के विषय में कृष्ण' पढ़ते 'कनुप्रिया' की याद आती है। हालाँकि भारती के यहाँ आवेगों, उच्छ्वासों की जो व्यापकता है, उससे यह कविता मुक्त है। पर स्त्री-पुरुष की आदिम अंतरंगता को शायद यह कविता अब-तक की सर्वाधिक मधुरता के साथ सामने लाती है। इस तरह के ये चरित्र कविता में अपनी ऐतिहासिकता खोकर समकालीन होते लगते हैं। लगता है कि इतिहास ऐसे ही मधुर स्पंदनों के सहारे जीवित रहता है।

किन्तु किसे विश्वास होगा
कि तुम्हारे मुख पर सदैव ऐसा कुछ था
कि प्रासाद में अकेले छोड़ दिए गए हम
परस्पर अर्थों को अंतिम सीमाओं तक समझते हुए
एक-दूसरे के स्पर्श तक की इच्छा नहीं करते थे
(या)
कौरव तथा पांडव मेरी मुस्कराहटों से संभ्रमित होते होंगे
किंतु पूरे कुरुक्षेत्र पर मैं तुम्हारी आँखें देखता था

प्रेम के नाम पर हिंदी में इधर भौंडे प्रयास किए जा रहे हैं। प्रेम की वापसी का हर पाँच साल पर हल्ला मचाने वाले इस एक कविता को पढ़ें और देखें कि कैसे प्रेम की महाकाव्यात्मकता को इस कविता में समेटा गया है। कविता पढ़कर लगता है कि क्या विष्णु खरे और क्या कबीर शायद यह प्रेम की मौलिकता ही है, जो आ ही जाती है ऊपर, सात तहों को फाड़कर और हम गुनगुनाने लगते हैं–तोको पिऊ मिलेंगे, घूंघट के पट खोल रे।

इसके अलावे लापता, अज्ञातवास और सत्य जैसी अन्य कविताएँ भी महाभारत के संदर्भों पर आधारित हैं। महाभारत के ऐतिहासिक पात्रों को जब मानवीय स्वभाव की कसौटी पर कवि कसता है, तो वे तमाम शौर्यवान, भीमकाय चरित्र करुणा के पात्रों में तब्दील हो जाते हैं।

प्रश्न यहाँ महाभारत में अविश्वास का नहीं
मानव स्वभाव में आस्था का है
या *हमारे वक्त यदि पांडव और द्रौपदी होते तो कीचक को*
गलतफहमी दूर करने के लिए डिनर पर बुलाया जाता

हमारे तमाम मिथकीय चरित्रों की सच्चाई भी यही है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम को भी अगर हम मनुष्य के स्वभाव के आधार पर विश्लेषित करें, तो वे आज के सामान्य प्रेमियों से अलग नहीं दिखते। ऐतिहासिक, धार्मिक उन्माद से आप्लावित इस काल में मानवीय स्वभाव की कसौटी को स्वीकार्य करने की माँग करती ये कविताएँ जैसे तमाम बेबुनियाद बहसों को प्रहसन बना डालती हैं। अगर हम आज के मानवीय स्वभाव को कसौटी मानें तो अन्य समस्याएँ भी हल हो जाएँगी। धर्म के लिए जिहाद

करनेवाले तमाम लोग क्या बताएँगे कि उनमें से कितने अपनी संतानों को मठों और
मंदिरों में पुजारी बनाना चाहते हैं।

'लालटेन जलाना' खरे की एक ऐसी कविता है, जो आधुनिक संदर्भों में आप्रासंगिक होती चीजों की अर्थवत्ता को बड़े बारीक ढंग से रेखांकित करती है। लगता है फालतू या बेकार जैसे शब्द नहीं हैं खरे के शब्दकोश में। इस कविता को पढ़कर साफ होता है कि कोई वस्तु आधुनिक या पुरानी, नई या बेकार नहीं होती बल्कि समय की ईकाइयाँ बेकार या अच्छी होती हैं। इसमें खरे ऐसी लालटेन जलाते हैं, जिसकी लाल और सुखद लौ में हम इस भागदौड़ के दर्शन में गुम होती चीजों की अर्थवत्ता को पहचान सकते हैं; उसे बचा सकते हैं। यह एक चुनौती भी है कि अगर हम इन्हें नहीं बचा सकते, तो क्या गारंटी है कि मनुष्यता को बचा लेंगे। आखिर चीते की प्रजाति नष्ट हो ही गई। ऐसी विवरणात्मक और बारीक बुनाई की कविता हिंदी में ऋतुराज और ज्ञानेंद्रपति के यहाँ देखने को मिलती है। ज्ञानेंद्रपति की 'चींटियाँ' और ऋतुराज की 'तीसरा क्षण' ऐसी ही कविताएँ हैं। 'लालटेन जलाना' की तरह 'तीसरा क्षण' में ऋतुराज रोटी बनाने की कला पर प्रकाश डालते हैं। इनका साम्य देखने लायक है।

लालटेन जलाना उतना आसान बिल्कुल नहीं है
जितना उसे समझ लिया गया है
और/ लालटेन जलाने की प्रक्रिया में
लालटेन बुझाना या कम करना भी शामिल है।

या

रोटी बनाना एक कला है
और/ जो महज लफ्फाज और चुहलबाज होते हैं
वे अपनी बिगड़ी हुई रोटी को भी/ संपूर्ण कलाकृति घोषित करते हैं।

पर जहाँ खरे के यहाँ विवरणात्मक लहजे की बारीकियाँ और विस्तार साथ-साथ हैं, वहाँ ऋतुराज के यहाँ पंक्तियों से प्रक्षेपित निहितार्थ ज्यादा तीखे हैं। यहाँ ज्ञानेंद्रपति की 'चींटियाँ' की भी कुछ पंक्तियों को देखना जरूरी होगा—

चींटियों से वे घबराते हैं
घबराते और घिनाते हैं
उन्हें बड़ा अजीब लगता है हाँ अभद्र भी कि वे एक साथ
अपने अधैर्य में उनकी चीजों पर कब्जा कर लेना चाहें

खरे का संग्रह भी 14-15 वर्षों बाद आया। ज्ञानपति और ऋतुराज के संग्रह 1981 में आए थे। पर उन पर उस तरह चर्चा नहीं हुई। इस बीच कवियों की एक पूरी पीढ़ी ताव खायी और अब सिरा भी रही है। खरे ने रघुवीर सहाय और केदारनाथ सिंह के बाद के सन्नाटे को तोड़ा है तो ज्ञानेंद्रपति और ऋतुराज को भी याद करना अच्छा लगता है। क्योंकि तीनों कवियों ने असाधारण विषयों की साधारण चर्चित

कविताएँ लिखने की बजाय साधारण विषयों पर साफ व सरल कविताएँ लिखी हैं। फिर भी इनके यहाँ चुनौती कम नहीं है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आक्रमण से काँपती हमारी राजधानी केंद्रित संस्कृति के मुकाबले लगता है ये कविताएँ मोरचा लेने में सक्षम हैं। महानगर में रहकर भी खरे ने जिस तरह महानगरीय जंजाल से खुद को बाहर किया है वह एक साहसिक कदम है। शायद ऋतुराज अपनी कविता में ऐसे ही साहसिक कर्म की अपेक्षा रखते हैं। 'उन्हें दिखानी होगी' कविता में वे लिखते हैं—

'हमें बिखेरना होगा उनके आईनों में से
गिरता मायावी प्रकाश
उनकी प्रसिद्ध राजधानियों को
अपनी भाषा के प्रक्षेपास्त्रों से उजाड़ना होगा'

खरे की कविताएँ ऐसा करती हैं, क्योंकि अगर निर्धान बल्बों के इस युग में वे लालटेन की धीमी लौ में सुबह उगते सूरज की तरह लाल और सुखद रोशनी का आभास पाते हैं, तो यह अकारण नहीं है। यह अकारण नहीं है कि वे उल्लू, चील, गिद्ध व चमगादड़ों पर कविता लिखते हैं और ज्ञानेंद्रपति चींटी, नेवला और चमगादड़ पर। खरे लालटेन जलाते हैं, तो ज्ञानेंद्रपति नगर में आए हाथी और चिड़ियाखाने से भागे साँप पर कविता लिखते हैं। ऋतुराज रोटी बनाने और दाल बनाने की प्रक्रिया पर प्रकाश डाल रहे होते हैं, तो ज्ञानेंद्रपति की चिड़िया टैंक की नली में घर बना रही होती है। दरअसल यही भाषा के वे प्रक्षेपास्त्र हैं, जो राजधानियों का तिलिस्म तोड़ेंगे।

और यह सब बिल्कुल नया नहीं है, हमारी परंपरा में शामिल हो चुका है। नागार्जुन ने कटहल और सुअरी पर कविता लिखी है, तो केदारनाथ सिंह अपसंस्कृति के टूटे ट्रक पर कब्जा करती घास और लत्तरों को देखते हैं। विनोद कुमार शुक्ल पहाड़ों और नदियों जैसे लोगों से मिलना चाहते हैं। और यह सबकुछ जीतने की इच्छा से नहीं, किसी महत्ता के लिए नहीं, बस जीवित रहने के लिए करते हैं वे। कविता कोई तिलस्म नहीं है, जो टूट जाएगा। यह जीवन की एक धारा है, जो भाव, भाषा व विवेक से पोषित होती है और जब तक 'दिल्ली में अपना फ्लैट बनवा लेने के बाद' भी आदमी का सोचना बंद नहीं होता है कविता जीवित रहेगी।

'सबकी आवाज के पर्दे में' और 'काल और अवधि के दरमियान' के प्रकाशन के बीच एक दशक का फासला है। इस बीच खरे ने जहाँ हिंदी कविता में कुछ और मील के पत्थर खड़े किए हैं; वहीं उनकी कुछ सीमाएँ भी दृष्टिगोचर होने लगी हैं। समाज के और बाज़ारवाद के बहुआयामी संकटों से एक रचनाकार को कैसे निपटना चाहिए इसकी बेहतरीन मिसालें हमें खरे की इधर की कविताओं में मिलती हैं। 'एक प्रकरण : दो प्रस्तावित कविता स्वरूप', 'जर्मनी में एक भारतीय कम्प्यूटर विशेषज्ञ की हत्या पर...' आदि कविताओं में इसे देखा जा सकता है। हालाँकि 'एक प्रकरण...'

जैसी कविता से नवकलावादी नजरिये को बढ़ावा मिलने का खतरा भी पैदा होता है। एक ही विषय को दो तरीके से अभिव्यक्त करने की क्षमता का प्रदर्शन आखिर और क्या साबित करता है! इधर की कई कविताओं, जैसे 'नेहरू-गाँधी परिवार के साथ मेरे रिश्ते' आदि में कवि ने अपने संस्मरणों को कविता के चौखटे में जड़ दिया है। गद्य लेखन के मामले में कवियों के अधैर्य को मैं समझ सकता हूँ, पर पाठकों को इस तरह कविता और संस्मरण दोनों से वंचित कर देना कहाँ का न्याय है। अगर इन बातों को कहने लायक काव्य-शैली कवि के कथनानुसार ही संभव नहीं थी, तो क्या गद्य की भी कोई शैली संभव नहीं थी?

क्या कोई ऐसी काव्य-शैली भी संभव है
जिसमें ऐसा इसी तरह कह सकते हों
यानी अपनी बात भी रह जाए और
काव्य-प्रेमियों और कला पारखियों की
भावनाओं और कसौटियों को
ठेस भी न पहुँचे

(एक प्रकरण : दो प्रस्तावित कविता-प्रारूप)

खरे जैसे गंभीर कवि का यह हाल कि 'अपनी बात भी रह जाए' और 'ठेस भी न पहुँचे'! यह तरीका अरुण कमल पर फबता है, खरे को नहीं। इधर की कुछ कविताओं में 'हारे को हरिनाम' की ध्वनि भी दिखती है–

...अपनी सृष्टि पर विचारता होगा लीलामय यदि कोई हुआ तो।

(रोने के बारे में दो कविताएँ)

कुल मिलाकर खरे का नया विकास मुझे सरस्वती की विलुप्त हो चुकी धाराओं की याद दिलाता है। इधर की रचनाओं में उनका जीवन-जल (कविता) कहीं गहरे छुपता जा रहा है और यह सब एक दिन में नहीं 'काल और अवधि के दरमियान' हुआ है। आज खरे रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह और विनोद कुमार शुक्ल को कविताई में पीछे छोड़ते नजर आ रहे हैं, हाँ मुक्तिबोध-शमशेर जैसी कठिन मंजिलें अभी आगे हैं।

•

वक्त के मुकाबिल खड़ी कविता

तू तभी अकेला है जो बात न ये समझे है
लोग करोड़ों इसी देश में तुझ जैसे
धरती मिट्टी का ढेर नहीं है अबे गधे
दाना पानी देती है वह कल्याणी

'अकेला तू तभी' कविता की ये पंक्तियाँ ठेठ देसी मिजाज के कवि वीरेन डंगवाल के मूल स्वर का परिचय देती हैं। शमशेर ने कभी लिखा था– 'जो नहीं है उसका गम क्या/जैसे सुरुचि...' वीरेन पर ये पंक्तियाँ ठीक बैठती हैं। इतनी बेतरतीबी, हिंदी क्या, किसी भी भाषा के कवि में नहीं मिलती। वीरेन को पढ़ते हुए पाश की 'घास' कविता याद आती है–

'मैं घास हूँ/मैं आपके हर किए-धरे पर उग आऊँगा/'

वीरेन की अराजकता भी इसी किस्म की है, व्यवस्था के हर किए-धरे पर उग आने वाली। वीरेन जानते हैं, अराजक आदमी की ताकत को, तभी तो 'प्रधानमंत्री' कविता में लिखते हैं–

ये आदमी भी एक ही खुर्राट चीज है प्रधानमंत्री
पानी की तरह साफ, सफ्फाक, निर्मल और तरल...
लेकिन जब वह किलबिलाता हुआ उठ खड़ा होता है...
तब

विष्णु खरे के बाद जिस तरह हिंदी-कविता में मानी-बेमानी डिटेल्स बढ़ते जा रहे हैं और कविता के कलेवर में मार तमाम तरह की गदहपच्चीसियाँ जारी हैं, वीरेन की संक्षिप्त कलेवर की कविताएँ 'कटु-विरक्त' बीज की तरह हैं। हिंदी कविता के लिए वीरेन नया प्रस्थान बिंदु साबित हो सकते हैं। मेधा की दुर्जयता के टंटों के इस दौर में ऐसी हरकतों से खुद को दूर रखते हैं। बड़ी और महान कविता से ज्यादा वह बड़ी जमात की बात कहने में विश्वास रखते हैं। बड़प्पन का घड़ा वह हर जगह पटक कर फोड़ते दिखाई देते हैं। 'रात-गाड़ी' कविता में वह लिखते हैं–

इस कदर तेज वक्त की रफ्तार
और ये सुस्त जिंदगी का चलन
अब तो डब्बे भी पाँच एसी के
पाँच में ठुंसा हुआ, बाकी वतन...

इस 'बाकी वतन' की चिंता वीरेन के यहाँ हर जगह देखी जा सकती है। पहले संग्रह की पहली कविता 'कैसी ज़िंदगी जिएँ' में ही उन्होंने लिखा था—

हवा तो खैर भरी ही है कुलीन केशों की गंध से
इस उत्तम वसंत में
मगर कहाँ जागता है एक भी शुभ विचार
खरखराते पत्तों में कोपलों की ओट में
पूछते हैं पिछले दंगों में कत्ल कर डाले गए लोग
अब तक जारी इस पशुता का अर्थ...

और यह पशुता जारी है आज भी, परंपरा और राष्ट्रवाद के नाम पर और पहले संग्रह 'इसी दुनिया में' के ग्यारह साल बाद दूसरे संग्रह 'दुश्चक्र में स्रष्टा' में भी कवि का संघर्ष जारी है, इस पशुता के खिलाफ, उसके छद्म रूपों के खिलाफ। 'नई संस्कृति' कविता में वह लिखते हैं—

...जली हुई
उन उजाड़, बस्तियों में
आकार ले रहा है
हमारा नूतन स्थापत्य
पटककर मार दिया गया वह बच्चा
वह हमारा भविष्य है।

इस व्यवस्था से गहरी चिढ़ है वीरेन को, क्योंकि वह किसी के मन का कुछ होने नहीं देती और कवि दुखी हो जाता है कि—

...झंडा जाने कब फुनगी से निकलकर
लोहे की अलमारी में पहुँच जाता...
इतने बड़े हुए मगर छूने को न मिला अभी तक
कभी असल झंडा...

असली झंडा ना छू पाने की यह जो कचोट है कवि के मन में, यह आम जन की टकटकी का रहस्य खोलती है। यह टकटकी, जो मुग्धता और तमाम विशिष्टताओं को पा लेने की, उन्हें मिसमार कर देने की हिंसक चाह के बीच झूलती रहती है। यह जो टकटकी है, निगाह है कवि की, झंडे से प्रधानमंत्री के पद तक की बंदरबांट कर लेने की, वह बहुतों को नागवार गुजरती है। खासकर हिंदी के चिर किशोर व नवल आलोचकों को, जिन्हें बेरोजगारी से ज्यादा, बेरोजगारों द्वारा समीक्षा

का स्तर गिराए जाने की बात परेशान करती है। यहाँ हम उन तथाकथित आलोचकों को भी याद कर सकते हैं, जो इससे पहले नागार्जुन में इस लुंपेन मनोवृत्ति को चिन्हित करते रहे हैं, दरअसल ऐसी फिकराकशियाँ उस अभिजात, अकादमिक विशिष्टता बोध से पैदा होती हैं, जो खुद को अलग और खास बतलाने-दिखलाने की कोशिश करते हैं।

धूमिल ने कभी तीसरे आदमी के सवाल पर संसद के मौन को लेकर आवाज बुलंद की थी। 'सभा' शीर्षक छोटी-सी कविता में वीरेन भी एक संजीदा सवाल उठाते हैं—

भीतरवालों ने भितरघात किया
बाहरवालों ने बर्हिगमन
अध्यक्ष रूठे कुछ देर को
संविधान के अनुच्छेदों के निर्देशानुसार
सदन स्थगित हुआ
भत्ता मगर मिला सबको...

आखिर जब सदन अकारण स्थगित कर दिया जाता है, तो फिर भत्ता क्यों नहीं स्थगित होता है।

वीरेन डंगवाल की कविताओं में 'रामसिंह' चर्चित रही है। उनके नए संग्रह में भी उसके वजन की दूसरी कविता नहीं है। फौजियों के अस्तित्व पर सवाल खड़ा करने वाली यह कविता मनुष्यता के पक्ष में बड़ी मुहिम की तरह है। ब्रेख्त ने एक चर्चित कविता में लिखा था, चेतावनी के स्वर में—

जनरल, बहुत मजबूत है तुम्हारा टैंक
लेकिन इसमें एक दोष है
इसे एक आदमी की जरूरत है
जनरल, आदमी बहुत उपयोगी जीव है
लेकिन उसमें भी एक दोष है
वह सोच भी सकता है।

'रामसिंह' कविता में वीरेन ने इसी एक आदमी की संभावनाओं को अभिव्यक्त किया है। वीरेन जानते हैं कि अगर यह आदमी विचार करने लगता है, सोचने लगता है तो बुश जैसे दिवालिया महानायकों की मंशा फुस हो सकती है, जो अफगानिस्तान, इराक के बाद अब ईरान के लोगों का इलाज करने की फिराक में लगा है। 'रामसिंह' की पंक्तियाँ हैं—

तुम किसकी चाकरी करते हो रामसिंह?
तुम बंदूक के घोड़े पर रखी किसकी उँगली हो?...
...कौन हैं वे, कौन
जो हर समय आदमी का एक नया इलाज ढूँढते रहते हैं

...वे तुम्हें गौरव देते हैं और इस सबके बदले
तुमसे तुम्हारे निर्दोष हाथ और घास काटती हुई
लड़कियों से बचपन में सीखे गए गीत ले लेते हैं...

ऐसा नहीं है कि वीरेन 'रामसिंह' को लड़ाई के मोर्चे से भाग जाने को कहते हैं, वल्कि वे उसे सही मोर्चों पर जाने को कहते हैं– जहाँ लोग बर्फ के खिलाफ इकट्ठे होते हैं, जहाँ आदमी हर पल मौसम और पहाड़ों से लड़ता है। वह 'रामसिंह' को याद दिलाते हैं–

याद करो कि वह किसका खून होता है
जो उतर आता है तुम्हारी आँखों में
गोली चलाने से पहले हर बार?
कहाँ की होती है वह मिट्टी
जो हर रोज साफ करने के बावजूद
तुम्हारे भारी बूटों से चिपक जाती है?

ऐसा नहीं है कि वह अपनी माटी से, धरती से प्यार नहीं करते, वे उसे माटी का ढेर नहीं, कल्याणी पुकारते हैं। पर छद्म राष्ट्रवाद या आतंकवाद के नाम पर अंध उन्माद में खून वहाने को वह सहन नहीं कर पाते। वह मरने-मारने को बहादुरी नहीं मानते। उनके लिए बहादुर वह है, जो जीवन के पथ की बाधाओं को हटाने में अपने प्राण लगा देता है। वीरेन का माथा भी कृतज्ञता से झुकता है, पर कठिन चढ़ाइयों में राह बनाते बहादुरी से मरे मजूरों को याद कर ('एक हजार फीट पर' कविता)।

वीरेन की कविताओं का एक पहलू उनका मनमौजीपन भी है, जैसे कि कुछ विषयों पर वह झख मारकर कुछ लिख देते हैं, तो फिर लिख देते हैं, उस पर विचार नहीं करते। जैसे पहले संग्रह की कविता 'कवि-2' में वह लिखते है–

मैं पपीते को
अपने भीतर छिपाए
नाजुक खयाल की तरह...

इसी संग्रह की 'पपीता' कविता में वह लिखते हैं–

असली होते हुए भी नकली लगता है उसका रंग
पेड़ पर रहता है तो भी मुँह लटकाए...।

इस तरह की चीज़ें दुनिया को ठेंगे पर रखने की मनोवृत्ति से भी पैदा होती हैं। फिर ठेंगे पर रखने की झख ऐसी, कि वीरेन खुद को भी ठेंगे पर रखने से बाज नहीं आते। इस मनोवृत्ति के पीछे हम एक चिर जिज्ञासु मानस को भी देख सकते हैं। जो किसी भी तरह की यथास्थिति को बर्दाश्त नहीं कर पाता।

'अरे हवा, कुतिया तुम्हारा घर कहाँ है' या 'फिर वहीं लौट जाती है नदी/एक

छिनार सकुचाहट के साथ' जैसी पंक्तियाँ या 'नदी' शीर्षक पूरी कविता ही जैसे झख की उपज लगती है। हालाँकि कविता के निहितार्थ बुरे नहीं हैं, पर स्त्री मात्र को अपमानित करने वाली गालियों का किसी भी संदर्भ में प्रयोग उचित नहीं ठहराया जा सकता। इनसे निजात पाने की जरूरत कवि को ही नहीं, भारतीय समाज के बड़े हिस्से को है। यह गड़बड़ी धूमिल के यहाँ भी है। लगता है, कवि ने इन चीजों पर विचार किया भी है, क्योंकि दूसरे संग्रह 'दुश्चक्र में स्रष्टा' में ऐसे प्रयोग नहीं मिलते।

आज की हिंदी कविता संदर्भहीनता का आख्यान बनती जा रही है। सारे युवा कवि कविता के नाम पर विचार बुक कर रहे हैं, वह भी केवल सामने वाले के बारे में। उनको पढ़कर कवि के परिवेश का, उसकी पसंद-नापसंद का, उसके खान-पान, रहन-सहन का कुछ पता नहीं चलता। नतीजा पाठकों के जेहन में उनकी कोई तस्वीर नहीं बनती। कविताएँ क्षणिक भावोत्तेजना का बायस बनकर फुस्स हो जाती हैं। वीरेन की कविताएँ इस मामले में अपवाद-सी हैं। 'मेरा बच्चा', 'गाय', 'इमली', 'समोसे', 'जलेबी', 'चूना', 'रात की रानी' ऐसी ही कविताएँ हैं, जो बताती हैं कि जीवन बस एक महान विचार मात्र नहीं है, वह इन छोटी-बड़ी-ज़रूरी-गैर ज़रूरी चीज़ों का समुच्चय भी है।

कुछ कविताएँ वैदिक देवताओं को लेकर लिखी हैं वीरेन ने। ये हिंदी में वैदिक ऋचाओं-सी हैं। वैदिक काल की ऋचाओं की सहजता को समझने में ये सहायक हो सकती हैं।

'मेरी नींद में अपना गरम थूथन डाले/पानी पीती थी एक भैंस'। बुखार के पाले कौन नहीं पड़ता, पर उसे इस तरह भाषा में कितने कवि ला पाते हैं। ये कुछ खूबियाँ हैं वीरेन की, जो उन्हें अलहदा साबित करती हैं।

वीरेन ने और भी बहुत कुछ लिखा होगा, वह भी सामने आना चाहिए क्योंकि यथास्थिति को तोड़ने में उनका जवाब नहीं।

...हमारे रोपे वे वृक्ष ढहते गए
क्योंकि उनकी जड़ें, जमीन की सिर्फ पपड़ी पर थीं...

लकड़हारे की इस अधूरी कविता को पूरी करने की जिम्मेदारी अगली पीढ़ी की है, कि वह अपनी जड़ों को और गहराई तक उतारे।

श्रीकांत वर्मा को बाजार और उदारीकरण की पक्षधर कांग्रेस के प्रवक्ता होने के चलते क्यों कोसते हैं!

'मगध' पर लिखते अरुण कमल लिखते हैं–"मैं लगातार किंचित विस्मय तो लड़ने की जरूरत पड़ेगी ही।

•

उधार की धार भी भय ने भोथरी कर दी

'नए इलाके में' दरअसल पुराने इलाकों की ही खोज है। कभी कवि गाँव-कस्बे की ज़िंदगी को छोड़ शहर आया था। फिर शहर महानगर में तब्दील होता गया। जब तक ताकत थी कवि भी उस गति में रमा रहा, पर अब गति से तालमेल ना बैठने पर उम्र के साथ उसे फिर उसी दुनिया में लौटने की सूझ रही है, जहाँ से शहर के तिलिस्म में बँधा वह निकला था। आज लौटने की कोशिश करने पर वह देखता है कि वे इलाके भी अब पुराने ना रहे। उनसे तालमेल और कठिन है। ऐसे में 'ना खुदा ही मिला' वाली परेशानी में फँसा कवि जार-जार स्मृत्तियों का रोना रो रहा है–

खोजता हूँ ताकता पीपल का पेड़
खोजता हूँ ढहा हुआ घर
और खाली जमीन का टुकड़ा जहाँ से बाएँ
मुड़ना था मुझे
...
यहाँ रोज कुछ बन रहा है
रोज कुछ घट रहा है
यहाँ स्मृति का भरोसा नहीं

कवि का महानगर के जिस सघन हिस्से में रहना होता है, वहाँ विकास उर्ध्व दिशा में एक सीमा तक होकर अवरुद्ध हो गया है। इस जड़ता ने कवि स्वभाव को भी जड़ बना दिया है। अपनी ही उस जड़ता से ऊबा कवि नए इलाकों में जाता है तो एक-दूसरे किस्म की जड़ता (जिसे वह स्मृति के नाम से पुकार कर एक भ्रम पैदा करना चाहता है) को ढूँढता है। रोज कुछ बनना उसे पसंद नहीं। उसे ढहा हुआ घर चाहिए। खाली भूखंड चाहिए।

अब यही है उपाय कि हर दरवाजा खटखटाओ
और पूछो–
क्या यही है वो घर?

कवि कोई खास घर खोज रहा है। जो खाली भूखंडों और ढहे घरों के बीच

ही पहचान में आता था। दरअसल नए मकानों के होते कब्जे को वह बर्दाश्त नहीं कर पा रहा है। जबकि रघुवीर सहाय इस भेड़-धसान संस्कृति को खूब पहचानते हैं। वे लिखते हैं– 'यह संस्कृति ऐसे ही बूटे-ऊँचे मकानों को गढ़ेगी।' अरुण कमल इन मकानों के अजनबीपन को न पहचान पा रहे हैं न भेद पा रहे हैं। बस बिसूर कर रह जाते हैं वे।

समय बहुत कम है तुम्हारे पास
आ चला पानी ढहा आ रहा अकास

स्पष्ट है कि महानगरीय जीवन के आदी कवि को देर तक खोजना भारी पड़ रहा है। और पानी चला आ रहा है। हालाँकि घर बेशुमार हैं, पर उनसे उसका कोई संबंध नहीं है। नए विकास को वह स्मृति के नाम पर खारिज कर देना चाहता है। नए विकास की अपनी नयी स्मृतियाँ होंगी ही, जिन्हें वह जानना भी नहीं चाहता।

'शायद पुकार ले कोई पहचाना ऊपर से देखकर।' अब ऊपर वाले पर ही भरोसा है। वही रास्ता निकाले शायद। कुल मिलाकर यही अरुण कमल के नए संग्रह की कविताओं की पृष्ठभूमि है। एक फिज़ूल के भय की कृत्रिमता से पैदा हैं संग्रह की अधिकांश कविताएँ। जिनमें 'बादल के घिरने का आतंक अकास के ढहने जैसा है।' जहाँ स्मृति का मानी जड़ अविवेकपूर्ण स्थितियों से है। ए.एल. बाशम 'अद्भुत भारत' में लिखते हैं कि यूरोप में साधारणतः मेघों की गरजन...अशुभ मानी जाती है। परंतु भारत के लिए वे...सौभाग्य सूचक समझे जाते हैं। अरुण कमल अँग्रेजी शिक्षक हैं, उन पर यूरोपीय कविता के प्रभाव के रूप में भी इस भय को हम देख सकते हैं।

क्या कवि ने खुद भी कोई पीपल रोपा है कभी, आखिर विरासत के भरोसे स्मृतियाँ कब तक साथ देंगी।

न पाप कमाया न पुण्य न ही रहा अक्षत

यही कवि की पीड़ा है। न पीपल रोपा, न उसे कटने-बिकने से बचा सका। और मुक्ति भी नहीं मिली। शायद यह दुख कवि को बार-बार सालता है। मुख्य बात यह है कि 'न खुदा ही मिला' वाले दुख को कवि इतनी बार इतनी तरह से लिखता है कि पूरा संग्रह रूदन का कोष बनकर रह जाता है। अच्छी कविता की बाबत कहा जाता है कि उसे दुबारा पढ़ने की इच्छा होती है। पर एक रोआंहटी कवि को आप फिर से रोने के लिए कह सकते हैं क्या? इस तरह रुदन व जीवन की निस्सारता का पारंपरिक राग संग्रह में भरा पड़ा है।

मेरा पूरा रक्त भी मरते पक्षी को नहीं दे पाएगा जीवन
कोई छुपा होगा दरवाजे के पीछे
मैं लौटूँगा और वह घूमेगा
–कौन सुनेगा मेरी पुकार इतनी दूर

अब पाठक क्या करें— मनोविकार से ग्रस्त इस भय के ग्राह से ग्रसित गज की मुक्ति के लिए नारायण से प्रार्थना करें। खुद को स्थावर (जड़) बनाते इस भय को कवि अच्छी तरह पहचानता भी है। 'स्थावर' कविता की पंक्तियाँ देखें—

बहुत दिन से एक जगह पड़ी हुई ईंट हूँ मैं
जिसे उठाओ तो निकलेंगी बिलखती चींटियाँ
और कुछ दूब चारों ओर
हरी पीली।

आखिर जीवन तो है। भय से जड़ हुए कवि की पीठ को कुरेदती दूब तो है। पर वह नहीं चाहता कि कोई उसकी जड़ता तोड़े। बहाना बिलखती चींटियों का है। आंतक रघुवीर सहाय के यहाँ भी काफी है पर यह थोथा भय नहीं है—

क्या मैं भी पूरा का पूरा
बेकाम हो जाऊँगा बीच राह
गिरा जूते का तल्ला

'भय' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं—

बंद रहा पिंजड़े में इतने दिन
कि उड़ूँ भी अगर तो भय है
फड़के एक पंख दूसरा हिले भी नहीं

कवि के निवास पर हमेशा बित्ते-भर के पिंजड़े में लटकता तोता नज़र आता था पहले। कवि ने अच्छा पहचाना है। इस महानगरीय सुभीते की एक कृत्रिम सुख के नाम पर तैयार किए गए घेरे वाली जिंदगी में शरीर की हालत ठीक ही बेजान हो जाती है। रूसी प्राणीविद फेन्तेयेव ने एक प्रयोग के बारे में लिखा था कि एक बार यह देखने की कोशिश की गई कि लगातार वर्षों तक एक घेरे में बंद जीवों को अचानक खुले में छोड़ देने पर उन्हें कैसा अनुभव होगा? पहले एक खरगोश को, जो बरसों से एक कटघरे में बंद था एक खुले मैदान में ला छोड़ा गया। पहले उसकी आँखें चमकीं। उसने एक उछाल भरी और जमीन पर पसर गया। जाँचा गया, तो वह मर चुका था। एक उल्लू और भेड़िए के साथ भी ऐसा ही हुआ। अच्छा है कि कवि ने इसे पहचान लिया। अगर अब भी वह इस पिंजड़े को तोड़ सका तो बच सकेगा।

भय के साथ अपनी असफलताओं से भी डरा हुआ है कवि। इस बुरी तरह कि वह उसे अपनी नियति मान लेता है।

छीलता गया पेंसिल
कि अंत में हासिल रहा ठूँठ

ये स्थितियाँ इस तरह काबिज हैं कवि पर कि हर घटना में वह भय को ही देखता है। और जहाँ वह नहीं होता, वहाँ वह उसका इंतजार करता है।

सामने बैठे यात्री ने लौंग बढ़ाई।
तो हाथ मेरा एक बार हिचका
ऐसे ही तो खिला-पिला लूट लेते हैं
...
एक बार उसे गौर से देखा
उसका चश्मा घड़ी और चप्पल जिसका
नथुना टूटा था
और शुक्रिया कह कर ले ली लौंग
पर इतना पूछ लिया— कहाँ जाएँगे? किस मोहल्ले?
उसके बाद भी देर तक करता रहा इंतज़ार बेहोशी का

इन पंक्तियों को पढ़ते एक कथा याद आती है। इस रूदनाम चर्चा में उससे कुछ रंग आ जाए शायद, हँसी का। एक जंगल से गुजरते एक यात्री को अपने बाएँ-दाएँ बाघ और अजगर से भेंट हो गई। दोनों उसी की ओर मुँह फाड़े बढ़े आ रहे थे। वे जब निकट आ गए, तो यात्री ने डरकर आँखें बंद कर लीं और हमले का इंतजार करता रहा। पर कुछ हुआ नहीं, तो उसने आँखें खोलीं। सामने अजगर और बाघ एक-दूसरे से जूझ रहे थे। कवि का भय का इंतजार भी कुछ ऐसा ही है। कवि मानता है कि वह खुद एक अच्छा अदमी है, फिर उसे डर है कि वह मारा जाएगा।

मैंने हरदम अच्छा बर्ताव किया
न किसी का बुरा ताका न कभी कुछ चाहा
और अब अचानक मैं मारा जाऊँगा

यहाँ मैं बताना चाहूँगा कि अच्छे आदमी की और भी परिभाषाएँ हैं। उनमें एक शायद ब्रेख्त की है कि— 'अच्छा आदमी वह है जिसे देख दुष्ट काँपें और भले आदमी खुश हों।' पर इस तरह का आदमी बनने लिए थोड़ी हिम्मत की जरूरत होती है। केदारनाथ सिंह ने लिखा भी है कि साहस की कमी से मर जाते हैं शब्द। अरुणजी का भय ऐसा ही है, जो उन्हें मार रहा है बार-बार। उन्हें अपने पड़ोसी कवि आलोक धन्वा की कविता 'पतंग' फिर से पढ़नी चाहिए, जिसमें वे बच्चों के बारे में कहते हैं कि— 'अगर वे छतों के खतरनाक किनारों से गिर जाते हैं और बच जाते हैं, तो और भी मजबूत होकर सामने आते हैं।' कहाँ आलोक का गालिबाना अंदाज़ेबयाँ और कहाँ अरुणजी का बिसूरना—

टिकट पर जीभ फिराते डर लगा
क्या पता गोंद में जहर हो

सोवियत संघ के पतन के बाद जो विचारहीनता का दौर चला है लगता है कवि भी इसका शिकार है। तभी वह लगातार अनिर्णयों के अरण्य में फँसता जा रहा है। कभी राजकमल चौधरी ने लिखा था— 'पूरा का पूरा जीवन युद्ध मैंने गलत

जिया'। आज अरुण कमल उससे आगे बढ़कर लिख रहे हैं कि पूरा जीवन युद्ध में गलत मरा। वे लिखते हैं—

लगता है कभी-कभी
हमने प्रश्न ही तो किए केवल
उत्तर एक भी न दिए
हर जगह डाली नींव
मकान एक भी खड़ा न किया—
क्या कहते हो, शुरू से गलत था
मकान का नक्शा?

संग्रह की आधी से अधिक कविताएँ भय की ऐसी ही भीतियों की अभिव्यक्तियाँ हैं। बाकी कुछ अन्य कविताएँ भी हैं। उनके बारे में 'अपनी केवल धार' से 'सबूत' तक काफी लोगों ने लिखा है। उसकी कुछ कड़ियाँ यहाँ भी मौजूद हैं। पर जो नया विकास है कवि का, वह भय ही है। जिस पर यह आलेख केंद्रित रहा। यूँ तो पहले ही अरुण जी ने मान लिया था कि सारा लोहा उन लोगों का है— पर तब धार अपनी थी। भय की मार ने यह धार भी भोंथड़ा दी है। सवाल है कि उस भोंथड़े लोहे का होगा क्या? जवाब कवि के शब्दों में ही—

अन्न उगा न सकूँ तो क्या
सूखते धान के पास बैठ कौआ तो हाँकूँगा

यहाँ अनायास वीरेन डंगवाल याद आते हैं—

इतने भोले भी न बन जाना साथी
कि जैसे सर्कस का हाथी।

जमीनी विस्तार का सौरभी स्पर्श

'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास' नामक अपनी पुस्तक में आलोचक बच्चन सिंह ने अरुण कमल के दूसरे संग्रह की बाबत लिखा था कि 'सबूत' उनकी काव्ययात्रा के विकास का सबूत नहीं दे पाता। इधर हंस में टिप्पणीकार भारत भारद्वाज ने अरुण कमल के चौथे संग्रह 'पुतली में संसार' को लेकर बच्चन सिंह की बातें करीब-करीब दुहरा दी हैं, जबकि ऐसा है नहीं। अरुण कमल का चौथा संग्रह उनके पिछले तीनों संग्रहों से काफी अलग है। इसमें सिंगार-पटार बढ़ा है, लालसाएँ बढ़ी हैं और आस्था भी बढ़ी है। पहले संग्रह में गंगा नदी के लिए कवि का संबोधन सीधा-सपाट था। चौथे संग्रह में आस्था की बिंदी लग चुकी है। गंगा भरी हों...(इच्छा)। इसी तरह 'घर-बाहर' कविता का यह अंश देखें—

प्रोफेसर वर्मा ने बताया यह एक पुराना चर्च है यहाँ का
जो अब वृद्धों को दे दिया गया है

जो कल घर था ईश्वर का
वह आज आदम का घर है
प्रभु का उतारन मनुष्य का सिंगार...

यहाँ जो अंतिम पंक्ति है, अलग से चस्पाँ की गई टिप्पणी की तरह, वह कविता की उतारन (केंचुल) सी लगती है, जिसकी कोई जरूरत नहीं है। पर यह और ऐसी जड़ाऊ पंक्तियाँ ही तो कवि के विकास की पोल खोलती हैं, उनकी आस्था के आधारों 'चौरासी कोठरियों' के दर्शन कराती हैं। ऐसी कविताओं को रामविलास शर्मा जड़ाऊ कविता कहते थे। वैसे भी अरुण कमल की काव्य-भाषा में भोजपुरी लोकभाषा की जो छौंक मिलती है, उसमें जड़ाऊ शब्द की महिमा बढ़ी है, जड़ाऊ धोती से लेकर जड़ाऊ गहनों तक।

बच्चन ने कभी लिखा था— 'जो छुपाना जानता तो जग मुझे साधु समझता...' अरुण जी ने भी अपनी लालसाओं को छुपाया नहीं है अबकी बार, चाहे वो चालू कुत्ते के पीछे भागती कानी कुतिया हो या 'संभोग के क्षणों के अंतिम प्रहार' या 'स्तनों का उठना गिरना लगातार' या छाती के बटन खोले हहाता समुद्र या फिर हो इक साँवरी भार देती स्तनों पर...

पुतली में संसार की कविताओं में विविधता भी काफी है। ब्रेख्त से लेकर शमशेर, मुक्तिबोध और आलोक धन्वा तक के ध्वनि-प्रभावोंवाली कविताएँ वहाँ मिल जाएँगी। कुछ पंक्तियाँ देखें—

जब भी हमारा जिक्र हो कहा जाए
हम उस समय जिये जब
सबसे आसान था चंद्रमा पर घर
और सबसे मोहाल थी रोटी...(अपनी पीढ़ी के लिए)
(या) *क्या है इस छोटी सी बात में जो आज मुझे व्याकुल कर रहा है (दोस्त)*
(या) *वह क्यों रुक गया था उस रात वहाँ उस मोड़ पर*
सुफेद मकान के आगे जो बत्ती की रोशनी में
और भी सुफेद लग रहा था...(फरमाइश)

संग्रह की 'अनुभव' शीर्षक कविता तो शमशेर की कॉपी-सी लगती है।

'नए इलाके में' (तीसरा संग्रह) का आत्मविगलित रुदन जो कविता के अकादमिक गुण ग्राहकों को पसंद आया था, यहाँ काफी कम है— *मेरे पास कुछ भी तो जमा नहीं/ कि ब्याज के भरोसे बैठा रहूँ* (डोर) निर्ब्याज, खाली हाथ होने का यह जो दुख है कवि का वह पुराना है। पहले संग्रह 'अपनी केवल धार' की कविता निस्पृह का भी वही भाव है। यूँ पहले और चौथे संग्रह के बीच में कवि ने काफी कुछ हासिल किया है। तमाम पुरस्कारों से लेकर विदेश यात्राओं तक, एक नौकरी भी ठोकी-ठेठायी है ही। फिर यह दुख कैसा है—

वे काँसा भी नहीं पायेंगे सोना तो दूर
मैं हीरे का तमगा छाती में खोभ
खून टपकाता फिरूँगा महँगे कालीनों पर...

कहीं किसी साँवरी की लालसा तो नहीं है वह–

सब कुछ पाने के बाद भी तुम इंतजार करोगे
रात के अँधेरे लंबे सुनसान गलियारे के पार
किवाड़ के पीछे उस साँवली स्त्री का...

क्या कवि को पता नहीं कि जब तक वह अपने सीने में हीरे का तमगा खोभे फिरेगा, साँवली दुष्प्राप्य रहेगी। फिर रो-रोकर इस तरह हलकान होने के मायने–

...पता नहीं आज भी आयेगी या नहीं
और तड़केगा रोम-रोम बलतोड़ की पीड़ा से
तसर वस्त्र के भीतर। मेरे दिल में इतनी मेखें हैं
कि तन सकते हैं प्यार के हजार शामियाने
पर हाय जिस किसी काग को कासिद बनाया
वही कंकाल पर ठहर गया। (मेख)

प्यार के शामियाने के लिए मेखें ही काफी नहीं हैं, कवि, थोड़ा खम भी पैदा करो।

फरमाइश, उस रात, खीरा, दस बजे आदि कई अच्छी कविताएँ भी हैं इस संकलन में। दस बजे एक रोचक कविता है, जिसमें कवि पड़ोस के व्यस्त चौराहे का चित्र खींचता है। कविता में आये ब्यौरे मजेदार हैं। हाँ, आकलन में एकूरेशी का अभाव कहीं-कहीं खटकता है। जैसे, वे लिखते हैं–*कोटि-कोटि गाड़ियों के नीचे...*

दुनिया की किसी भी व्यस्त सड़क पर एक जगह कोटि-कोटि (करोड़ों-करोड़) गाड़ियाँ खड़ी नहीं हो सकतीं। यह कीर्त्तनियों की शब्दावली है, जिसका वे भाववाचक प्रयोग करते हैं, संख्यावाचक नहीं। ऐसे कई जोर-जबर से किये गए प्रयोग अच्छी बनती कविताओं का भी कबाड़ा कर देते हैं। जैसे सड़कें भरी रहतीं कंठ तक या सिगरेट की ठूँठ आदि। जब कथ्य अस्पष्ट हों, तो इस तरह के प्रयोग अच्छे लगते हैं, जैसे 'छाती खोले समुद्र' या 'हाथी-सी चीन की दीवार' आदि। यूँ भाषा की ये गड़बड़ियाँ भाव के अभाव के चलते नहीं, बल्कि जल्दबाजी के चलते होती हैं। अब केदारनाथ सिंह जैसे वरिष्ठ कवि जब लिखने लगें– एक मुकुट की तरह उड़े जा रहे थे पक्षी तो औरों का क्या कहना? वे 'अतल जंगल', 'हर पानी' कुछ भी लिख सकते हैं। आप तलाशते रहें लक्षणा, अभिधा व व्यंजना में उनके अर्थ!

अरुण कमल के यहाँ मुक्ति का संघर्ष तो नहीं है, हाँ मुक्ति का स्वप्न जिलाये रखने का जतन है। वहाँ मुक्ति न भी मिले तो बना रहे, मुक्ति का स्वप्न। 'आत्मकथा' कविता में कवि लिखता है–

न लेखक गृह का एकांत/ न अनुदान वृत्ति का अभ्यास
जितनी देर में सिझेगा भात/ बस उतना ही अवकाश।

इस दुखड़े के क्या मानी, जब 'लू शुन की कोठरी' कविता में कवि लिखता ही है– इतनी छोटी कोठरी में कैसे अँटा इतना बड़ा देश। वस्तुतः अरुण कमल की कविताओं की धजा जमीनी विस्तार और प्रकृति से संबद्ध कविताओं में ही खुलती-खिलती है। 'आतप' और 'आश्विन' ऐसी ही कविताएँ हैं–

चाँदनी से गीले हैं खेत छायाएँ खुद से भारी
ऐसी स्तब्धता शाखों के भीतर
ऐंठती मंजरों से भारी देह
बहुत दूर भीतर उठती है हूक
यह किसकी कूक है, किसकी पुकार
कौन मुझे उठाता है, धूल सा, कैसा बवंडर...(आतप)

ऐसा क्या है इस हवा में
जो मेरी मिट्टी को भुरभुरा बना रहा है
धूप इतनी नम कि हवा उसे
सोखती जाती है पोर-पोर से
सिंघाड़ों में उतरता है धरती का दूध
और मखानों के फूटते लावे हैं हवा में
धान का एक-एक दाना भरता है
और हरसिंगार खोलता है, रात के भेद
चारों तरफ एक धूम है
एक प्यारा शोरगुल रोओं भरा। (आश्विन)

जमीनी विस्तार का यह सौरभी स्पर्श हिंदी कविता में आज कहाँ किसी के पास है। बेकार का रोना है फिर–'पहाड़ों', 'घाटियों', और 'सागरों' का। बगीचे-बघारों के थोड़े से बोल ही काफी हैं। कवि के पहले संग्रह की भी यही ताकत रहे हैं।

•

लोकजन की ओर उन्मुख कविता

अरसा पहले विजेन्द्र ने जिस दलित स्वर को पकड़ा था उसके अपने सौंदर्यबोध और जमीनी ताकत के साथ, वह फिर गायब हो गया हिन्दी कविता से—

ये लोग मुझे असुर कहते हैं और आदमी को आदमी से तराश
दुनिया के दर्दनाक हिस्से करते हैं...

ये काले आदमी शूद्र गरीब अछूत ये सब तुम्हारे पास अश्वारोही
प्रतीक हैं पोले-पोले बाँस मुझे वक्त-बेवक्त रौंदने के लिए
तुम मुझे कहो कच्चा लोहा गलाने वाला रेगिस्तानी गाड़िया लुहार
या निषादराज मैं क्रौंच वध के समय से शापित हूँ।...

और ऋचाएँ लिखकर सदियों से तुम मुझसे अलग हो गये हो अपना
सुनहरा इतिहास लिखने की गरज से।...

'तीसरी आँख' कविता की इन पंक्तियों में विजेन्द्र परंपरा से चलते चले आए उस भेद-भाव को रेखांकित करते हैं, जिसमें भारत के मूल बाशिंदों को द्रविड़ से असुर और फिर शूद्र कहकर अपमानित किया गया और धीरे-धीरे उन्हें अछूत की श्रेणी में ला खड़ा किया गया। देखा जाए तो आदमी से आदमी को तराश कर जुदा करने की ये कोशिशें दुनियाभर में शासक जातियों ने की हैं। उन्हें सुर-असुर कहें या श्वेत-अश्वेत। वे उस षड्यंत्र की ओर ध्यान दिलाते हैं, जिसके तहत वे रामायण के रचनाकार और प्रथम कवि को पहले अछूत की श्रेणी में डालते हैं और फिर उनके श्राप से निषादों की पूरी जाति को अछूत करार देते हैं। और यह सब एक श्रेष्ठ जाति का गौरवमय इतिहास रचने के नाम पर सदियों से किया जाता रहा।

आज तुम
मेरे नाम का काला बाजार करने पर तुले हो
और खराद पर चिनगारियाँ लेते जिन्दा आदमी को
सिर्फ आत्मा आत्मा आत्मा

कह कर
भूसा उड़ाते हो। (आबोहवा)

इस ऐतिहासिक धोखाधड़ी को वे जहाँ से पकड़ते हैं, जिस तरह उसके सामने उसका क्रूर चेहरा लाते हैं वह हिन्दी में अपनी मिसाल आप है। आत्मा-परमात्मा की बाजीगरी के साए में किस तरह श्रमिक जमातों की कालाबाजारी होती है उस पर उनका गुस्सा समझना चाहिए, क्योंकि बड़ी सफाई से इस तरह हम उनका शोषण होते देखते रहते हैं, क्योंकि आत्मा का तो शोषण होता नहीं है उसे तो न आग जला सकती है, न पवन सुखा सकता है। इसलिए एक ओर आप अपनी आत्मा को तो परमात्मा से मिलाने की जुगत भिड़ाते रहिए, दूसरी ओर उनको समझाइए कि आत्मा का विनाश नहीं होता और वे काम में मरते दम तक जुटे रहें और आप उनकी आत्मा की घानी से तेल चुआते पट्ठे बने रहिए।

मैं जिन रास्तों से गुजर कर आया हूँ
वहाँ कहीं भी
तुम्हें मेरा नाम लिखा नहीं मिलेगा...
जहाँ मैंने युद्ध लड़े हैं
खेत रहा हूँ वहाँ
तुम्हें कहीं-कहीं वहाँ बिजूका नजर आएगा...

देखा जाए तो करोड़ों दलित-श्रमिक लोगों की आत्मा की आवाज को विजेन्द्र ही पहचानते हैं। और अरबों लोगों की खुराक कमाने-जुटने वाली इस जमात की ताकत को, जिन्दगी के ताप को वे महसूस करते हैं। वे उन्हीं से दिशा पाते हैं, कविता को धार देते हैं। वे आत्मरक्षा में उनके द्वारा बोले गए झूठ और उनकी दयनीयता का मजाक नहीं उड़ाते। इस तरह वे घुमन्तू श्रमिक जातियों को अँग्रेजों द्वारा अपराधी जाति घोषित करने के षड्यंत्र को बार-बार सामने लाते हैं—

तुम्हारा सीना कसरती होकर भी धसक गया है
कनपटियाँ बैठ गई हैं
गोया यह एक पूरे देश की पिटी-पिटाई शक्ल है...
फिलहाल मैं कविताएँ लिखूँ न लिखूँ
तुम्हें 'मैनहोल' पर खड़े होकर प्यार से बुलाऊँ न बुलाऊँ
इतिहास को चटाई की तरह बगल में दबाकर ढूकता रहूँ
लेकिन लिंगराज और महाबलीपुरम् से भी ज्यादा सच यह है
कि तुम इस सबके बावजूद जिन्दा हो
और फसल का चेंप मारते वक्त तुम्हारी उँगलियों के छोरों पर
खून छलक आता है
...तुम्हारे गर्म उसाँस मुझे छूते हैं। (मुखपृष्ठ)

'स्थलाकृति' कविता में वे यह सवाल उठाते हैं कि आखिर इस महान देश की हर नामवर जगह, स्थान से उनका नाम और पता क्यों गायब है!

विजेंद्र को प्रकृति का विपुल वैभव हमेशा से खींचता रहा है। ऐसे कठिन समय में जब हिंदी कविता मनोवैज्ञानिक रस्साकशी का खेल बनती जा रही है, ज्ञानेंद्रपति और विजेंद्र की कविताओं में प्रकृति के बहुआयामी चित्रों को देख राहत मिलती है। उन्होंने दलित जन के अलावा प्रकृति को हमेशा अपना आधार बनाया है और उसकी ताकत उनकी हाल की कविताओं में भी दिखती है। प्रकृति से प्राप्त इस अनंत ऊर्जा स्रोत के भरोसे ही कवि विश्व बाजार को चुनौतियाँ दे पाता है—

तुम्हारी आँखों का नीला जल
मेरा प्यार है
कितनी धारियाँ और कितनी
शक्लें हैं इसमें
स्फटिक के रवों में जैसे झिलमिलाती
एक उज्ज्वल रेखा मेरे अच्छे भविष्य की
ये चीज़ें तुम्हारे विश्व बाजार से गायब हैं।

विपदाग्रस्त उड़िया स्त्री हो, रुक्मिणी हो, या डबडबाई आँखों वाली कमल, विजेंद्र जड़ों से उखड़े इन चरित्रों को शिद्दत से तरजीह देते हैं, जबकि आज की युवा कविता अपने मन में उठते बवंडरों में ही ऐसी खोई रहती है कि उसे कुछ दिखता नहीं।

विजेंद्र की कविताएँ मनुष्य की आदिम अदम्य जीवनी शक्ति को लगातार अभिव्यक्त करती रही हैं— *'यह हाय है/सदियों की मेहनत का फल।'* लय, ताल व तुक वाली कविताएँ व सॉनेट भी हमेशा लिखते रहे हैं विजेंद्र। हालाँकि ये कविता के पुराने फार्मेट हैं, पर नए कथ्यों से ये भी विजेंद्र के यहाँ प्रभावी हो जाते हैं, और कहीं तो लगता है कि इस पुराने फार्मेट में ही यह नया कथ्य ज्यादा सही ढंग से अभिव्यक्त हो सका है। लोक के विविध चरित्रों को ही नहीं उठाते विजेंद्र, लोकभाषा के ढेरों शब्द भी उनकी इन काव्य कथाओं में सहजता से अपनी जगह बनाते चलते हैं। मिनख, दलकारे, दगड़े, ढकेल, नौन, हलाए भड़ककूर, भब्बड़, मस्कले, कसुए जैसे ढेरों शब्द विजेन्द्र की कविता को अलग पहचान देते हैं। ये नई राह दिखाते कहते से हैं कि अँग्रेजी की फंटूसी से समय बचे, तो जरा इधर का भी रुख करें विद्वतजन कि आदमी के चित्त का उजास इन्हीं शब्दों से अभिव्यक्त हो सकता है। ग्लोबल गाँव में बढ़ती जा रही आम आदमी की त्रासदी कवि के मन को कचोटती रहती है, जहाँ-तहाँ यह कचोट बड़े मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त होती है—

चोटें जो लगी हैं
वही मेरी सगी हैं

या—

समतल-समतल तो सब जाते
कौन फलाँगे खाँचा।

'लोकतंत्र का तपता लोहा' विजेन्द्र की लंबी कविताओं में एक है। इस कविता में कवि ने अपने समय की विडंबनाओं को रेखांकित करने की कोशिश की है। चाहे वह सांप्रदायिकता हो या आम आदमी को बेजुबान करती पूँजी, सब पर कवि की निगाह है। कवि का विश्वास है कि लोक से उठी लहर ही लोकतंत्र का तपता लोहा है, जो भविष्य में इस्पाती दाँतदार पहिए में तब्दील हो जाएगी।

विजेन्द्र की कविताएँ मनुष्य की अदम्य जीवनी शक्ति के स्रोतों की ओर इशारा करती हैं। वे द्वेष से धुआँती काली पड़ती दमित इच्छाओं को अँकुरों से टपकती रोशनी की बूंदें दिखाती हैं। प्रकृति का अवाक् करने वाला वैभव उनकी कविताओं में बिखरा पड़ा है। समय का 'कुहासा' घना है, पर कवि है कि 'धूप की प्रतीक्षा में' खड़ा है। इस कुहासे में भी वह 'विश्व सुंदरियों के पुते चेहरे' देख रहा है। 'ऋण के बोझ से' काँपते देश को भी। पर अंत तक वह 'आदमी के अदम्य साहस' में अपना भरोसा रखना चाहता है। श्रम की महिमा से अवगत है कवि, कि खुद 'धूप में' काला पड़ कर भी किसान 'धरती को अन्नपूर्णा' बनाने में जुटा रहता है। कवि को मालूम है कि समय की ज्वाला में जलकर ही चीजें आकार पाती हैं। प्रकृति का उदात्त वैभव कवि की राजनीतिक चेतना को बल देता है। देश का प्रधानमंत्री जिस दिन/सुरक्षा का भरोसा देता है/उसी दिन/अबोधों को जिंदा जला दिया जाता है... संसद में भड़कूकर मची है...।

भारत द्वारा किए गए परमाणु विस्फोटों ने बहुतों की छाती चौड़ी कर दी, पर इसने धरती की छाती के साथ क्या किया, इसे कवि के शब्दों में ही देखें— तुमने विनाश किया है आग्नेयास्त्रों से/मेरे हृदय में बने स्थापत्य का/आकृतिवान चित्र का। प्रकृति की उदात्त छवियों को उकेरता कवि कभी भी उसे अपने अहं की तुष्टि का साधन नहीं बनाता। यह चीज कवि को आत्मग्रासी महाभाव में फँसने से बचाती है। कवि जानता है कि उससे पहले भी वीर हुए हैं और आगे भी होंगे, इसीलिए वह कह पाता है—

...पहली पगडंडी पर चल कर
आगे अपनी बनाना ही
कविता है।

इसी बात को गालिब अपने ढंग से कह चुके हैं, कि पिछले जमाने में कोई 'मीर' भी था।

•

यह पृथ्वी रहेगी

केदारनाथ सिंह हिंदी के अकेले कवि हैं, जो कविता की उदात्त परंपरा से लड़ते रहते हैं और उसका विकेंद्रीकरण करते हैं। ऐसा करते हुए वे चुपचाप आदमी की लड़ाई में शामिल हो जाते हैं और इतना निकट पहुँच जाते हैं कि अविश्वास की स्थिति पैदा कर देते हैं कि वे इस संघर्ष में शामिल हैं भी या नहीं? और ऐसा कर वह स्वयं को महाकवित्व के उदात्तबोध तथा उसकी कुंठाजन्य मानसिक विक्षिप्तता, जिसकी एक परंपरा रही है, दोनों ही से मुक्त रहते हैं। इसीलिए जब वे कहते हैं कि– 'और एक सुबह में उठूँगा/मैं उठूँगा पृथ्वी समेत।' तब हमें विस्मय नहीं होता क्योंकि, इसके पहले वे पृथ्वी को इतनी हल्की बना चुके होते हैं कि कोई भी उसकी एक पोटली बना अपनी काँख में दावे चल सकता है–

यह पृथ्वी रहेगी
यह रहेगी जैसे पेड़ के तने में
रहते हैं दीमक, जैसे दाने में
रह लेता है घुन।

बौद्धिकता को नहीं सरलता को वे अपनी शक्ति बनाते हैं। इसीलिए जब वे इस विश्वास से भरे चल रहे होते हैं कि मुकाम पर पहुँच ही जाएँगे और रास्ता खो जाता है, तो बौद्धिकता के आवेग में भटकाव का खतरा नहीं लेते। क्योंकि यायावरी कवि का लक्ष्य नहीं, पड़ाव है। जहाँ आगे के मंजिलों की कुंजियाँ रखी हैं। इसलिए, रास्ता खोने पर वे एक बूढ़े किसान के पास जाते हैं और राह पूछते हैं, तब बूढ़ा बोलता नहीं एक ढेला उठाकर चरती गाय की ओर फेंकता है, मानो कह रहा हो, अपना अभिमान त्यागकर इन भोले पशुओं से भी पूछोगे तो रास्ता बता देंगे वे–

चली जा रही थी गाय
उधर रास्ता था
उधर घास में धँसे हुए खुर-सा
चमक रहा था रास्ता

और ऐसे बूढ़े किसान की इस सलाह को सुनने का धैर्य महानगरीय परिवेश में विरले ही किसी कवि में जिंदा है।

कोई हमसे पूछे कि मोटा-मोटी केदारजी ने क्या लिखा है तो मैं कहूँगा कि प्रकृति लिखा है या पृथ्वी लिखा है, पर प्रकृति उनके यहाँ वानस्पतिक नामों की आरोपित ध्वनि नहीं है। लिखते-लिखते कब वह मनुष्य लिखने लगते हैं पता नहीं चलता? लिखना पहाड़ पर शुरू करते हैं और लिखा जाने लगता है श्रमिक–

विराट आकाश के जड़, वक्षस्थल पर
वे रख देते हैं अपना सिर
और देर तक सोते हैं
क्या आप विश्वास करेंगे
नींद में पहाड़
रात भर रोते हैं।

इसी तरह बैल लिखते-लिखते वे कब किसान लिख देते हैं, कि विस्मय होता है–

वह एक ऐसा जानवर है जो दिन-भर
भूसे के बारे में सोचता है
रात भर
ईश्वर के बारे में

सौंदर्य की सृष्टि करनी हो या किसी हकीकत को दर्शाना हो अपनी रहस्यमयी भाषा की आधारशिला वो यथार्थ की वैश्विक पृष्ठभूमि में रखते हैं और हमें चकित होना पड़ता है कि अरे यह भी सच है–

वे ताबड़-तोड़, बाँध रहे हैं अपने बोझे
जैसे चुराये गए हों
सूरज की टाल से

जमीन में जब नाइट्रोजन और खनिजों की कमी होती है, तो कुछ पौधे ऐसे होते हैं, जो अपनी जड़ें हवा में फेंकते हैं। इसी तरह केदारजी को भी जब अपनी जमीन से अपेक्षित पोषण नहीं मिलता है, तो वे अपनी जड़ों को जीवन की विभिन्न दिशाओं में फेंकते हैं। और यह प्रमाण है कवि की अदम्य जिजीविषा का कि समय का प्रदूषण भी उनकी उन्मुक्तता को दूषित नहीं कर पाता। वे उसमें भी अपनी जड़ें फेंक देते हैं और उसे उर्वर बनाकर पोषण पाते हैं।

मैंने देखा– वहाँ उसकी झुर्रियों में
अब भी जगह थी
जहाँ एक चिड़िया
अपना घोंसला बना सकती है

यह जिजीविषा ही है कि एक बूढ़े, उदास गड़रिये के झुर्रीदार चेहरे में भी वे एक शाखा-सी आश्रय-क्षमता पाते हैं जहाँ एक पक्षी अपना घोंसला बना सकता है।

केदारजी की एक महत्त्वपूर्ण कविता है 'टमाटर बेचने वाली बुढ़िया', जिसमें

वह बुढ़िया के चेहरे की तुलना टोकरी से करते हैं। यहाँ वे श्रम ही नहीं देखते, करुणा भी देखते हैं, जो अपने बेटे के लिए बुढ़िया के जेहन में है, जिसके लिए वह बोझ ढोती है और खुद टोकरी की तरह जीवन को ढोकर भी खाली रह जाती है—

मुझे टमाटरों की रोशनी में
उसका लहकता चेहरा दिखाई पड़ता है
यह माँ का चेहरा है

और यह लहक मात्र टमाटरों का प्रतिबिम्ब नहीं है। इन टमाटरों में उसके बेटे की छवि भी छिपी है।

जीवन और प्रकृति में जरूरत से ज्यादा कृत्रिम हस्तक्षेप केदार जी पसंद नहीं करते। वे चेतावनी देते हैं कि बंदी बनाकर हम प्रकृति तथा जीवन के सौंदर्य को सक्रिय नहीं रख सकते। नुचे हुए परों और पंखुरियों से सजी सेज को वे गर्हित दृष्टि से देखते हैं और वहाँ उनका दृष्टिकोण अतिमानवीय हो जाता है। इस संदर्भ में वे खुद को भी माफ नहीं कर पाते—

उसने मुझे एक बार
एक अजब-सी कातर दृष्टि से देखा
और दम तोड़ दिया
तब से मैं डरने लगा शब्दों से

केदारजी की आरंभ की एक कविता है 'बादल ओ'। इसमें धानों के बच्चे बादल को देखकर उत्साह से भर जाते हैं और उसे बुलाते हैं कि उनका जी उन्मन हो गया है। यह कविता पाठक को इस तरह अपनी गति में तरंगायित करती ले भागती है कि पाठक सोच भी नहीं पाता कि प्रकृति की ओट में श्रम ही वहाँ भावों की चाल में, चंचलता भर रहा है।

क्योंकि धान एक प्रच्छन्न प्राकृतिक बिम्ब नहीं है, उससे मानवीय श्रम का जीवंत रिश्ता है और बादल को धान के ही नहीं किसान के बच्चे भी बुला रहे हैं। क्योंकि अपने थोड़े-बहुत वैज्ञानिक संसाधनों से भारतीय किसान की जरूरतें पूरी नहीं पड़तीं। वह प्रकृति की कृपा पर ही आश्रित रहता है तभी तो धानों के बच्चे पुकारते हैं बादल को—

हम कि नदी को नहीं जानते
हम कि दूर सागर को नहीं जानते
हमने सिर्फ तुम्हें जाना है

'धब्बा' शीर्षक से उनकी एक कविता है। यह धब्बा रक्त का है, जो किसी भी पीड़ित व्यक्ति का हो सकता है, जिसमें हत्यारे का चेहरा दमक रहा है और जो बीच सड़क पर पड़ा कराह रहा है, जिसे कोई सुन नहीं रहा है। यहाँ तक कि कराह सूखकर मर जाती है। काली हो जाती है। समय भी अपनी गति से उसके पास आता

है। वह भी हत्यारे के पक्ष में उसे धोकर मिटा देता है, ताकि हत्यारा पहचान में ना आ सके— *'अब बारिश खुश/ कि उसने धो डाला धब्बे को/ धब्बा खुश कि जैसे वह कभी सड़क पर/ था ही नहीं।'*

यहाँ इसकी तुलना रघुवीर सहाय की कविता 'रामदास' से करें, तो यथार्थ पर प्रकाश पड़ता है। रामदास कविता में रामदास की हत्या का विवरण तटस्थ ढंग से दिया जाता है और दर्शाया जाता है कि स्थिति इतनी विषम है कि किसी के पक्ष में जाना खतरनाक है। बस इसकी खबर दी जा सकती है। इस कविता में पत्रकारिता का दृष्टिकोण कवि पर हावी है और सरल और गतिशील होकर भी कविता यांत्रिक हो जाती है। पर इसके मुकाबले 'धब्बा' में अपनी मनोविज्ञानी अस्पष्टता के बावजूद कवि धब्बे से तटस्थ नहीं है। वह रेखांकित करता है कि धब्बे को भय है, वह अपना चेहरा छुपा ले जाना चाहता है, जिसमें समय (बारिश) उसकी मदद करता है, पर उसका एक गवाह कवि है और वह रामदास की हत्या के विवरणकर्ता की तरह तटस्थ नहीं है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि जहाँ धब्बे में हत्यारे को डर है और अपनी पहचान मिटने पर वह खुश हो रहा है वहीं रामदास में जनता ही सहमी है। यहाँ मीडिया और खबरों के दबाव में कवि हत्या का मनोविज्ञान भी भूल जाता है कि डर हमेशा हत्यारे को होता है जिसके दबाव में वह हत्या करता है। जनता का डर तात्कालिक होता है, जिससे वह देर-सबेर संगठित होकर निपट लेती है। ऐसे में कवि को जनता का डर बढ़ाना नहीं चाहिए क्योंकि उसे डराना उसको हत्यारा बनाना है।

समाचार पत्रों के खबर देने के ढंग का ही नतीजा है कि इधर भीड़ आक्रामक होकर धैर्य खोती जा रही है। नतीजतन हत्यारा तो कहीं छिपा रहता है और पावरोटी चुराकर भागने वाले को भी जनता खदेड़ कर मार दे रही है।

नागार्जुन की एक प्रसिद्ध कविता है—'शासन की बंदूक'

जली ठूँठ पर बैठकर गई कोकिला कूक
बाल न बाँका कर सकी शासन की बंदूक

केदारजी कि कविता भी उसी कोकिल की तरह है। निराशा जब हमें ठूँठ कर जाती है, तो सारी पहरेदारी के बाद भी वह अंतर्मन में पैठकर भीतर के अँकुरों को अपनी स्वर लहरी से सजीव और सजग कर जाती है।

यह उनकी सहज अदम्यता ही है कि वे चुनौती दे पाते हैं। पुलिस और थाने की धज्जियाँ उड़ाते हैं— *'मैं उस तरफ इशारा करता हूँ/ जिधर थाना नहीं है।'*

वे जानते हैं कि शोषण का प्रतीक थाना हर जगह नहीं है। उसका भय सार्वजनिक है और उसकी उपेक्षा करना भी उससे लड़ने का एक तरीका है, क्योंकि शोषक-वर्ग अपनी उपेक्षा कभी बर्दाश्त नहीं कर सकता।

•

रघुवीर सहाय की कविता और समकालीन यथार्थ

1955 में मुक्तिबोध लिखते हैं— "लगभग सभी कवियों में विकसित विश्वदृष्टि का अभाव मिलता है। अगर किसी में कोई विश्वदृष्टि है भी, तो वह ऐसी स्थिति में है कि वह उसकी भाव-दृष्टि का अनुशासन प्रायः नहीं कर पाती है।" और जब रघुवीर सहाय की 'सीढ़ियों पर धूप में' से लेकर 'कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ' तक की यात्रा का मैं आकलन करता हूँ, तो पाता हूँ कि एक आतंक है वहाँ, धूमिल की चीख और चुप्पी के अंतःसंबंध को अप्रासंगिक करार देता हुआ दुःपरिभाष्य इसीलिए अगम्य, अवध्य आतंक, एक अराजकता है, जिसमें राजनीतिक शोहदेपन के मार-तमाम भाष्य बिखरे पड़े हैं। धूप में चित्त लेटी एक स्त्री है, जिसने पतिव्रता से रखैल और पतुरिया तक की यात्रा की है। वहाँ एक दर्द मिलता है उबासी-भरा। और एक हँसी मिलती है गमगीन-सी, जो शमशेर के यहाँ पाई जाती है।

पर यह सब काफी है क्या? क्या उच्च मध्यवर्गीय जीवन के अलावे का पिचहत्तर प्रतिशत जीवन, जो महानगर के बाहर रहता है, की समझ कविता की आधुनिकता के लिए जरूरी नहीं है? गाँव, कस्वा, नगर, उपनगर का जीवन और मजदूरों-किसानों का जीवन सहाय की कविता में आ नहीं पाता है। इस पर विचार किया जा सकता है। या इस बारे में रामविलास शर्मा के विचार सिर्फ यूटोपिया हैं। सहायजी की जीविका रेडियो, अखबार, टेलिविजन से जुड़ी रही तो क्या मीडिया के यंत्रीकृत दबावों की भी उनकी कविता पर कोई भूमिका बनती है?

बच्चन की कविता से सहाय जी का कंठ फूटता है। और कुछ लोगों को लगता है कि जिस तरह उत्तर छायावाद में बच्चन और दिनकर और बाद में एक हद तक अज्ञेय मुख्यता से उभरते हैं, पर कविता की परम्परा पंत-प्रसाद-निराला के बाद मुक्तिबोध, शमशेर, त्रिलोचन, केदार, नागार्जुन से जुड़ती है, उसी तरह इनके बाद रघुवीर सहाय पूरे काल छाये रहते हैं, पर क्या वह परम्परा कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, विनोद कुमार शुक्ल, ज्ञानेन्द्रपति, आलोक धन्वा, अरुण कमल और विजेन्द्र से नहीं जुड़ती है। क्या इस जुड़ाव को परिभाषित करने के लिए इन कवियों को भी अज्ञेय की तरह रघुवीर सहाय की कवितांतक आधुनिकता से जूझना नहीं पड़ेगा? क्या सहाय जी की मृत्यु उन्हें इस संघर्ष से बचा सकती है।

जितनी बूँदें
उतने जौ के दाने होंगे
इस आशा में चुपचाप गाँव यह भीग रहा है।

इन पंक्तियों का सच क्या मुकम्मिल नहीं है। आगे उनकी कविता से गाँव और उसका यह स्वर निर्वासित क्यों हो जाता है? जबकि केदारनाथ सिंह गाँव की इस ताकत को उसकी आत्मा और सुगंध के साथ 'तार सप्तक' से 'अकाल में सारस' तक लेकर चलते हैं। महानगर का अर्थ क्या है— सत्ता। सत्ता का शासन गाँवों पर भी है, पर क्या महानगरों से गाँवों की नकेल पकड़ कर उन्हें विकसित किया जा सकता है? क्या रघुवीर सहाय भी श्रीकान्त वर्मा की तरह सत्ता की विकृतियों तक सीमित नहीं रह जाते हैं। सत्ता सिरमौर है इसलिए उसकी विकृतियों का विश्लेषण भी साहित्य का सिरमौर हो जाएगा।

कुछ लोग हिन्दी-कविता की परम्परा को निराला के बाद मुक्तिबोध और रघुवीर सहाय से जोड़ते हैं और तर्क देते हैं कि तीनों युग की विकृत विडंबनाओं से एक से आतंकित रहते हैं। क्या आतंकित रहने से परम्परा बनती है या उससे जुड़ने से, जूझने के साहस से, विवेक से। यह सर्वाधिक गहरा और बहुआयामी आतंक सबसे ज़्यादा मुक्तिबोध को ही ग्रसता है, पर वे विचलित नहीं होते हैं। वे लिखते हैं— कम-से-कम प्रस्तुत समय में, भारत में ऐसी कोई भयानक बाधा नहीं है जो लेखक को अपने पूर्ण और मूर्त आत्मप्रकटीकरण अथवा जीवन चित्रण से रोके।

आज कौन-सी नई बाधा अभिव्यक्ति को अमूर्त कर रही है। चीख और चुप्पी का अंतर मिटा ताकत ही ताकत का दर्शन रच रही है। यहाँ रघुवीर सहाय की 'रामदास' कविता की तुलना कुंवर नारायण के 'सम्मोदीन की लड़ाई' कविता से करें तो राहत मिलती है। रामदास की तरह निहत्था सम्मोदीन का भी मारा जाना तय है पर उसकी मौत उसके संघर्ष का अंत नहीं—

जल्दी ही वह (सम्मोदीन) मारा जाएगा
सिर्फ उसका उजाला लड़ेगा।

रघुवीर सहाय के यहाँ आतंक तो दिखता है, पर उसका प्रतिकार कहाँ और कैसा है— 'ले आओ कहीं से वह दिमाग', 'रामदास मारा जाएगा', 'ऐसे हंसो वैसे हंसो नहीं तो मारे जाओगे', 'जो गवाह होगा मारा जाएगा' पर हल कहाँ है? क्या सबसे बड़े दुस्साहसी वहीं नहीं होते, जहाँ सबसे ज्यादा खतरे होते हैं। खतरे का यह आत्मघाती स्वरूप किसकी पैदाइश है? रघुवीर सहाय खतरे का कोई निदान नहीं खोजते, तो सुधीश पचौरी कविता का ही अंत देखते हैं, ठीक ही है कि 'कहाँ से कौन लाएगा वह दिमाग।'

रघुवीर सहाय के यहाँ कथ्य गड्ड-मड्ड रहता है। वे समय की दुखती रग पर अंगुलियाँ देते चलते हैं, पर समाधान नहीं ढूँढते। वह चेतावनी के कवि हैं यह चेतावनी उनकी परम्परा में कितनी जटिल हो जाती है कि किसी काम की नहीं रहती। यह असद जैदी, विमल कुमार के यहाँ देखा जा सकता है। विमल कुमार के यहाँ

परम्परा का मोह बाकी है, खैर है कि चाँद, तारे अभी भी उन्हें बुलाते हैं। 'अखबार वाला' कविता में सहाय जी खुद इस आतंक का विश्लेषण करते हैं पर निष्कर्ष खबर होकर रह जाता है–

खबर हमको पता है हमारा आतंक है
हमने बनाई है–

फिर वो लिखते हैं–

खबर वातानुकूलित कक्ष में तय कर रही होगी
करेगा कौन रामू के तले की भूमि पर कब्जा।

अखबार बेचने वाले रामुओं की अलबत्ता कोई जमीन नहीं होती, जमीन छिनने पर ही वे इस आवारागर्द जीवन-शैली में प्रवेश करते हैं और रोटी की इस जमीन को जिस पर वह खड़ा है उससे छीनना नामुमकिन है, क्योंकि यह जमीन नहीं उसकी लड़ाई है। यह आखिरी लड़ाई छिन जाने पर खुद रामू छिन जाएगा। फिर कौन बाँटेगा अखबार, किसे धोखा दे चलेगी यह व्यवस्था। इसीलिए बेकारी, बेगारी की यह जमीन छोड़ देती है व्यवस्था। राजकमल चौधरी लिख चुके हैं– आदमी को तोड़ती नहीं हैं लोकतांत्रिक पद्धतियाँ...लाचार-अपाहिज बना देती हैं।

'धूप' कविता में सहाय जी कहते हैं–

कितने सही हैं ये गुलाब
कुछ कसे हुए और कुछ झरने-झरने को
और हल्की-सी हवा में और भी, जोखम से
निखर गया है उनका रूप
जो झरने को हैं।

मृत्यु की उपत्यका में झरने-झरने के पूर्व का यह जोखिम, जो मुक्तिबोध की अपनी पहचान है और जिसे सहाय जी ने भी इस कविता में पहचाना है, वह कहाँ गुमा गया।

किसने खरीद लिया यह जोखम, उसे खदेड़ कौन भर गया यह भय का तिलिस्म, जो तोड़े नहीं टूटता, जिसमें उलझकर दम तोड़ देता है कवि और तिलिस्म है कि अभी भी समाँ बाँध रहा है।

असद जैदी की विशेषता बताते हुए सहाय जी लिखते हैं, "वे एक नई परम्परा गढ़ते हैं कि अनुभव का एक आदि, मध्य, अंत हो यह जरूरी नहीं।" तो क्या अब हमारे अनुभव में आदमी की पहचान उसके चेहरे, उसकी भाषा और दिशा से नहीं उसकी बड़-बड़ाहट, गुड़-गड़ाहट और उसके थिरकन से होगी। इसीलिए रंग शब्दों से ज्यादा जरूरी लगने लगते हैं सहाय जी को। वे लिखते हैं–

शब्दों को तो यों ही कह देते हैं ब्रह्म शब्द के अर्थ
निकल सकते हैं दो रंगों के नहीं।

आखिर इस अनादि, अनंत, सनातन और शब्दों के द्वंद्व से मुक्त कविता को हम मुक्तिबोध की जीवट परंपरा से कैसे जोड़ सकते हैं। गाँधी कहते थे कि घृणा,

पाप से करो पापी से नहीं। सहाय जी लिखते हैं, "और अगर चेहरे गढ़ने हों तो अत्याचारी के चेहरे खोजो/अत्याचार के नहीं।" क्या ये उलटबाँसियाँ सही हैं या सच दोनों के मध्य कहीं है? अपने घर में बच्चों के बीच क्या अत्याचारी का वही चेहरा होगा जो घटनास्थल पर होगा। या अत्याचार के दृश्यों में ही उसका चेहरा छिपा होगा। जिस तरह श्रीकान्त वर्मा राजनीतिक दबाव में थे, वैसे ही सहाय जी पर मीडिया का दबाव था, पर श्रीकान्त वर्मा इस दबाव से बचने के लिए इतिहास की शरण लेते हैं और अपने संघर्ष की पुनर्रचना करते हैं। लड़ते तो सहाय जी भी हैं, पर वे वर्तमान में रहते हैं, जिसके अपने जोखिम हैं, जिससे जूझ नहीं पाते वे और बकौल सुधीश पचौरी उनकी कविता अहिंसक हो जाती है, मधुर निवेदन हो जाती है (जनपथ)।

एक सुरक्षित जीवन के लिए वे भय को शत्रु के पक्ष से उछालते हैं फिर छद्म विडम्बना और संत्रास की रचना करते हैं–

एक समय होगा जब ताकत-ही-ताकत होगी
चीख नहीं होगी।
खतरा होगा, खतरे की घंटी होगी
और बादशाह उसे बजाएगा।

यह बादशाह कविता की दुनिया के बादशाह सहाय जी तो नहीं हैं। भय पर श्रीकांत वर्मा निर्णायक रूप से विजय प्राप्त करते हैं–

पर तुम्हारा एक शत्रु पल रहा है
विचार
और आजकल महामारी की तरह फैल जाता है विचार।

ब्रेख्त की कविता है–

जनरल बहुत मजबूत है तुम्हारा टैंक
बहुत मजबूत
पर इसे एक मनुष्य की जरूरत होगी।

यहाँ टैंक की ताकत ही ताकत मनुष्य के सामने कितनी बौनी हो जाती है। इसी स्थिति को ध्यान में रखकर ज्ञानेंद्रपति लिखते हैं–

बहुत बज चुकी खतरे की घंटी अपने-अपने घर से बाहर आ
एक मुट्ठी की तरह कसने का वक्त है यह।

पर भय को टन-टनाकर रघुवीर सहाय कवियों को जरूर भटका देते हैं। यही कारण है कि कविता से विजन गायब होने लगा, लंबी कविताएँ गए जमाने की चीज लगने लगी हैं। भय के इसी हमले से बचने के लिए केदारनाथ सिंह को अपनी सरल गतिमयता त्याग अमूर्तता का सहारा लेना पड़ा, पर विजन को उन्होंने छोड़ा नहीं। जगूड़ी की 'मंदिर लेन' और कुमारेन्द्र की सारी कविताएँ एक विजन और तय कालबोध को प्रकट करती हैं। गाँवों का अपनी ठेठियत के साथ आ-आकर अमूर्तन को तोड़ते चलना, यही केदारजी को ताकत देता रहा। और सहाय जी के समानान्तर मात्र वही

खड़े रह सके। अमूर्तन का सहारा लें, न लें का द्वंद्व जगूड़ी और कुमारेन्द्र को पीछे छोड़ गया। आज के लोकतंत्री युग में खबरों का स्वरूप बदल चुका है। ताकत ही ताकत बाहुबलियों के सामंती युग की चीज थी। फिर अर्थ का और ज्ञान का युग आया। अब खतरे सूक्ष्म हो चुके हैं, अब वे बजते नहीं, घुलते हैं हवाओं में, जल में, रक्त में। एक लंबी जटिल अन्वेषण की प्रक्रिया से गुजरकर ही इन्हें पहचाना जा सकता है। घंटी बजाना मूल संश्लेपी खतरे से जनता का ध्यान हटाकर उसे छद्म भय की ओर ले जाता है।

यह रघुवीर सहाय का ही आभामंडल था कि पाश जैसा कोई कवि हिंदी में नहीं हुआ। जब सहाय जी भय का तिलिस्म रच रहे थे, उसी वक्त पाश जैसा कवि व्यवस्था के विरुद्ध एक पूरी लकीर खींच रहा था। आखिर पाश जैसा क्षेत्रीय भाषा का कवि हिंदी जगत को क्यों मोहित कर रहा था। पाश की आग के गीत तो सबने गाए, पर उसमें आहुति किसी ने नहीं डाली। पाश की पंक्तियों को देखें–

भारत
इस शब्द के अर्थ
खेतों के उन बेटों में हैं
जो आज भी वृक्षों की परछाइयों से
वक्त मापते हैं।
कि
भारत के अर्थ
किसी दुष्यंत से संबंधित नहीं
वरन् खेतों में दायर हैं
जहाँ अन्न उगता है
जहाँ सेंध लगती है।

अब केदारनाथ सिंह की कुछ पंक्तियों को देखें–

जमीन पक रही है– उसने कहा
और उसे लगा यह एक ऐसी खबर है
जिसे खरहे की माँद तक पहुँचा देना चाहिए।

या–

मैं दौड़ा गया और पाया कि पौधों की जड़ों में छिपे हैं शब्द।

पाश और केदारनाथ सिंह की पंक्तियों में एक अंतरसंबंध खोजा जा सकता है। इनका अंतर प्रौढ़ता और वय का अंतर हो सकता है, विजन और प्रकृति का नहीं। क्या सहाय जी से भी पाश का कोई संबंध खोजा जा सकता है?

सहाय जी अपनी कविता में एक शुष्क शोक-गीत रचते हैं, जो व्यक्ति और समाज दोनों से निरपेक्ष होता है। मंगलेश डबराल के शोकगीतों में एक लय, एक तरलता होती है, जो उसे करुणा में परिवर्तित कर देती है। उनका आधार स्मृतियाँ

हैं। आज के यांत्रिक जीवन में जब खाली वक्त मिलता है और कवि अपने जीवन पर विचार करता है, तो अतीत के बरक्स वर्तमान बेसुरा-सा लगता है और उसे स्मृतियों का सहारा लेना पड़ता है। स्मृतियों की पुनर्रचना द्वारा वह उस गैप को भरता है। इसी तरह इन शोकगीतों की रचना होती है। सहाय जी के पास भी ऐसी कविताएँ हैं पर कम हैं, जैसे– आजादी, मुआवजा, लोग भूल गए हैं आदि। पर उनके यहाँ बड़ी संख्या शुष्क शोक गीतों की है। जैसे कोई अपनी खाज खुजा रहा हो। जो दिखता तो दुख की तरह है, पर खुजाना आनंद दे रहा है। खबरों की तरह सपाट इन कविताओं का आधार कुछ दिमागी मनोविज्ञानी जानकारियाँ होती हैं। दुर्भिक्ष, अभिनेत्री, कैमरे में बंद अपाहिज, अज्ञातवास, विचित्र सभा ऐसी ही कविताएँ हैं। उनकी परम्परा में असद के यहाँ यह खाज भी नहीं है। शुष्कता उसे रेत का ढेर बना डालती है। रेत उछालने का भी अपना मजा है, जो इन कविताओं में मिलता है। कभी-कभी कुछ घिसे सुंदर पत्थर भी मिलते हैं, जिनके मिलने पर हम कुछ देर सम्मोहन में उसे उछालते हैं, दबाते हैं उसका संबंध नदी की धारा से जोड़ते हैं फिर ऊबकर रेत पर या धारा में फेंक देते हैं।

रघुवीर सहाय का जीवन खबरों के मध्य बीता। खबरों का संघनित ढंग से कविता में प्रयोग की नई टेकनीक भी उन्होंने विकसित की, पर खबरों का कोई चरित्र वो नहीं गढ़ सके। खबरों का चेहरा उजागर करने का जोखिम, जोखिम के सफल शिल्पकार बड़ी दिलेरी से बचा लेते हैं। और कवियों की बिरादरी उन्हें दाद देते थकती भी नहीं है। ऐसे में राजेश जोशी का यह कहना कि, "विश्लेषण और गहन बौद्धिक स्वर के बीच वह दो-टूक आलोचनात्मक स्वर/सहाय जी का/कहीं खो गया है जो उनकी कविता, उनकी शुरू की कविता में सुनाई देता था।" बड़ा सुकून देता है।

उन्हीं के समकालीन जगूड़ी कविता में खबरों का एक चरित्र गढ़ते हैं। 'मंदिर लेन' कविता इसका बेहतर उदाहरण है। इस लंबी कविता की हर पंक्ति खबरों का इतिहास रचती है। और खबरों को जोड़ता है एक करुण, निडर, विवेक। खबरों की भीड़ में उसका एक चेहरा खोजना उससे लड़ने की ताकत देता है। रघुवीर सहाय की पहचान के जो कारक बनते हैं वो कारक जगूड़ी में ज्यादा ताकत से आते हैं, पर उन्हें वो रिटर्न नहीं मिलता है। पर भविष्य में जब कोई कवि रघुवीर सहाय को बेहतर ढंग से समझने की कोशिश में इनकी काई और फिसलन-भरी जमीन पर पटकनिया खाएगा तब श्रीकान्त वर्मा और जगूड़ी की कविता उसे शरण देगी।

रघुवीर सहाय की स्त्री की अवधारणा और समकालीन कविता

रघुवीर की कविताओं में यथार्थ उनके अपने अनुभवों तक सीमित रहता है, यहाँ तक कि अक्सर यह लगता है कि वह उन्हीं से परिभाषित भी होता है।. ..उनकी अधिकांश कविताओं में अगर स्त्री का करुण या दयनीय रूप ही उभरता है तो यह उनके यथार्थबोध पर एक विपरीत टिप्पणी भी मानी जा

सकती है। एक बड़ा कवि सिर्फ अपनी ही तरफ और एक ही तरह नहीं देखता;
अपने चारों ओर, दूसरों की तरफ और दूर-दूर तक भी देखता है।

–कुँवर नारायण

जीवन की विडम्बना से ज्यादा विस्मय बोध के कवि हैं सहाय जी। विस्मय की जड़ में कहीं न कहीं हल न ढूँढ़ पाना ही होता है। ''गदराई लड़कियों/बच्चों में विस्मय क्षण भर को भर दो।'' महानगर के बाहर आ देखें कवि लड़कियाँ गदराती कहाँ हैं, और उनकी आँखों में जो विस्मय है वह अज्ञान नहीं उसका छल है। उसी एक भोलेपन के, विस्मय के छल के भीतर वे छुपाती हैं अपनी दारुणता, अपना धैर्य।

रघुवीर सहाय के साथ कविता का अंत कर ही रह जाते सुधीश पचौरी, तो भला था, पर वे कविता को इतिहास में जाना देखते हैं और स्त्री को काली, दुर्गा का अवतार बता उसकी असहायता का महान दुख उनकी कविता में देखते हैं। भई, स्त्री असहाय और दुर्गा एक साथ कैसे हो जाती है। वे दिखलाते हैं कि किस तरह सहाय जी गरीब लड़की की व्यथा से साक्षात्कार कराते हैं–

> *एक लड़की जिसकी बाढ़ मारी गई है*
> *डर के मारे नहीं बताती मुझको यह अपना दुख।*

पचौरी बताते हैं कि जैसी अमूर्त सहाय जी की कविता है वैसा ही अमूर्त यह दुख है। जिसे लड़की समझा नहीं सकती। उनके अनुसार औरतों का खत्म होता भविष्य सबसे पहले सहाय की कविता में दिखता है। तो वह दुर्गा किसकी खोज है। यहाँ डर का कारण अमूर्तता है या परिवेश, वेश-भूषागत अलगाव।

स्त्री की करुणा का बेहतर स्वरूप आज के युवा कवियों मदन कश्यप, विमल कुमार की कविताओं में नज़र आता है। वहाँ केवल आतंक नहीं एक अन्वेषण भी है।

> *एक का रोना सुनती हैं स्त्रियाँ*
> *और रोने लगती हैं*
> *रोने लगती हैं स्त्रियाँ कि क्या उनकी अपनी व्यथा ही*
> *कम है रोने के लिए।*

या विमल कुमार के यहाँ देखें–

> *वे किताबें पढ़-पढ़कर आँखें फोड़ती रहीं*
> *फिर भी अनपढ़ कहलाईं।*

'पढ़िए गीता बनिए सीता' जैसी विडम्बना बोध की स्पष्ट कविता भी सहाय जी ने लिखी है। वही उनकी सीमा भी है। जबकि आलोक धन्वा, अरुण कमल के यहाँ स्त्रियाँ इस मध्ययुगीन असहायता से मुक्त होती हैं। सहाय जी के यहाँ वह चित ही रहती है।

> *हम रोटी और फल बचाएँगे*
> *यह उसके सीने में एक दिन उदय होगा।*

यह जिलाने की, बचाने की मनोवृत्ति कैसी है? आज भी इस दया की जरूरत है या उसे पूरा साथ; पूरा अधिकार चाहिए। क्या फल इसलिए बचाएँ कि उभर आए सीना और भोग्या तैयार हो!

> *वह था उसका सीना*
> *आँखों के सामने*
> *उसकी अकेली असहाय*
> *और गैरबराबर औरत*
> *का वह सर्वस्व था और मेरे बहुत पास।*

सहाय जी का दर्द गजब क्यूँ हो गया है! 'असहायता सीने में क्यूँ है? असहाय लड़की गदरा क्यूँ जाती है? आँखों में उसकी विस्मय क्यूँ आ जाता है? लड़की का सीना तो घास-भूसा खाकर भी गदरा जाता। ये लड़कियाँ मायकोवस्की की सात साध्वियाँ तो नहीं हैं। जरूरत है कि कवि की दृष्टि सीने से उठकर आँखों में देखे। वहाँ विस्मय नहीं, पीड़ाएँ ढूँढ़े, सामर्थ्य ढूँढ़े। अरुण कमल की कविता में जब मजदूरन कवि से लगकर सोती है, तो उसे तो डर नहीं लगता। आलोक धन्वा के यहाँ भी स्त्रियों का सामर्थ्य दिखता है। वे असहायता के कारण नहीं, अपनी सामर्थ्य के कारण जलाई जाती हैं। वे रुकी, गदराई, विस्मयबोध ग्रसित, अजूबी स्त्रियाँ नहीं हैं। वे गतिशील हैं। उनकी गतिशीलता से ग्रसित डरा वर्ग है जो हमलावर है। यह हमला प्रामाणिक है, वह विकास प्रामाणिक है। यह कविता का ही नहीं हमारे जीवन का भी सच है।

> *वे अचानक कहीं से नहीं*
> *बल्कि नील के किनारे-किनारे चलकर*
> *पहुँची थीं यहाँ तक।*

ये कविताएँ यह छूट नहीं देतीं कि आप आदि-मध्य, अन्त से बचाकर उनकी व्याख्या करें। श्रम, समय, समाज से जोड़कर ही इनकी व्याख्या संभव है। शायद इसीलिए पचौरी के सुविधापरक घेरे में ये कवि नहीं आ पाते।

स्त्री को एक जाति के रूप में पेश करते-करते सहाय जी उसका साधारणीकरण करने लगते हैं। वह माँ, बेटी, पत्नी क्यूँ नहीं होती। कहीं उसकी चीख नहीं होती। जबकि आँकड़ों में सबसे ज्यादा वह दिल्ली में ही जलाई जाती है। त्रिलोचन 'चम्पा' और 'चित्र जाम्बोरकर' से चरित्र रचते हैं। 'एक सूरज माँ के लिए' में कुमारेन्द्र पारसनाथ उसके श्रम को दर्शाते हैं। सहाय जी ऐसा कुछ नहीं कर पाते। वहाँ अमूर्तता की जातीय अवधारणा के सवाल से काम चलाया जाता है। यह अनामता, शक्लहीनता समाज सापेक्षता की गहन कसौटी से बचाव का तरीका नहीं तो और क्या है। तब पचौरी बताएँ सहाय जी के यहाँ नारी संपूर्णता में कहाँ आ पाती है? 'भागी हुई लड़कियाँ' से लेकर 'ब्रूनो की बेटियाँ' तक आलोक धन्वा जो एक समर्थ नारी चरित्र रचते हैं, क्या वह आधुनिक नहीं। स्पष्टतः नारी की जातीय अवधारणा : अमूर्तता व उससे

जुड़े सवालों से बचने की मुद्रा है। हम उसके श्रम की ताकत को मापना नहीं चाहते। क्या किसी की पहचान मिटा देना ही आधुनिकता है। मैं ऐसा नहीं कहता कि सहाय जी ने नारी की बाबत नया नहीं लिखा, पर सबल नहीं लिया। एक डर, एक हाय उससे जुड़ी है। वह भी उलझी हुई।

हिंदी की युवतर पीढ़ी की कविता में नारी की जुझारू छवि उभरती है। जो अपनी शैली में भी महत्त्वपूर्ण है। गोरख की 'कैथरकला की औरतों' से लेकर निलय की 'रामकली' तक इसका उदाहरण हैं। छोटे-छोटे ही सही नारी के गतिशील चरित्र बनते हैं। उनकी सपाटता सहाय जी की आदि-अंतहीन सपाटता से बेहतर है। ये गतिशील नारी चरित्र विकास की राह में मील के पत्थर हैं। जबकि सहाय जी के यहाँ नारियों की 'कचोट और कुंठाओं से अमीर होता' उनका कवि है। इन कुंठाओं को तोड़ने का प्रयास वहाँ नहीं मिलता। अपने जीवन में तो वो सामर्थ्यवान पुत्रियाँ पैदा करते हैं। पर कविता में समर्थ चरित्र क्यों नहीं रच पाते।

'वह जवान थी उसके जिस्म में जान थी/ पर क्या चीज टूटी पड़ी थी उसके चेहरे में'। 'थोड़ा-सा गोश्त और वह ज़रा ताकतवर हो जाती/ देह से।' 'तब मैंने देखा कि उसे इतने करीब/पाकर यह क्या हुआ इतना अजीब दर्द।' इन पंक्तियों पर गौर करें। जान थी तो थोड़ा गोश्त क्यों चाहिए, थोड़ा साहस क्यों नहीं चाहिए। ताकत देह से क्यों, मन से क्यों नहीं चाहिए। सुबह से शाम हाड़ तोड़ती औरतों के पास ताकत की कमी नहीं, मानसिक हौसले की जरूरत है। उसके अजूबे दर्द को समझने की जरूरत है।

जब वह घुटने मोड़ कर
करवट लेटी हो
तब देखोगे कि तुम
देख रहे हो कि
उस पर अन्याय होंगे ही।

'पर उसका चेहरा उसका विद्रोह है/ यह कितनी कम औरतें जान पाती हैं।' आप जब अन्याय होते देख रहे हैं तो उसे अपने विद्रोह के बारे में कौन बताएगा? यहाँ घुटने की असहायता, चेहरे के विद्रोह को पूरी तरह बाँट कर अपनी सुविधा के लिए उपयोग किया गया है, ऐसा नहीं लगता क्या?

रघुवीर सहाय की 'तारसप्तक' की कविताओं में स्त्री और प्रकृति के प्रति वैसी असहज दृष्टि नहीं मिलती। उनमें एक सरलता, कच्चापन और मिठास मिलती है। 1950 के आसपास वे लिखते हैं—'वसंत' कविता में—

पकी फसल सा गदराया जिसका तन
अपने प्रिय को आता देख लजायी जाती।
या
और कभी जब गौरैया-सा मन

घर के आँगन में खेलने का हुआ
मैंने थामा उसे कह के बचपना न करो।

पर 1960 में 'सीढ़ियों पर धूप में' के प्रकाशन तक लगता है अज्ञेय का असर होने लगा था। उनकी सहजता टूटने लगती है। वे एक नई समझ पाते हैं जिसमें नारी की अकुलाहट या बेचैनी क्षुद्र लगने लगती है। वह कवि की महान करुणा से जुड़कर ही ऊपर उठ सकती है। सयाने कवि का मन गौरैया-सा नहीं रह जाता। वह कर्मठ हो जाता है और सलज लड़की, छोकरी में परिणत हो, मसखरा बन जाती है। स्वेटर बुनने की अनन्तता में दुनिया एक चिपचिपी चीज़ हो जाती है। यह भी कोई काम है, पुरुषों को गर्मी पहुँचाना उनका नैतिक दायित्व जो है। यहाँ मलयज की 'प्रेम' और 'लड़की' कविता द्रष्टव्य है—

बंद अँधेरे में
दो सफेद चमकते बटन
थोड़ा-सा लाल ऊन थोड़ा सा नीला और
कुछ बुनने को मचलती दो सुनहली सलाइयाँ।
(या)
जैसे पशु पर गर्म लोहे की मुहर लगा दी जाती है
उस कमसिन लड़की की गोद में एक बच्चा आ गया।

ऊपर भी तो स्त्री के प्रेम, करुणा का ललित व यथार्थवादी दो चित्र सामने हैं क्या वह पिछड़ा लगता है। पर सहाय की कविता में अब बक-बक करती स्त्रियाँ प्यारी लगने लगती हैं और प्रेम ऊब का खेल हो जाता है। गाली में नयापन मिलता है। और तन से क्षुधित मन से मुदित नारी अंत में चित हो जाती है। उसकी अभिव्यक्ति का कोई भी ढंग कवि को गुस्सा दिलाता है। देखें—

चिटखती क्यों हो
एतना गुस्सा!
बोसा भी तो नहीं
लिया है सिर्फ बुस्सा।

अब 1980 के बाद की कविताएँ देखें—

हाँ, मारी नहीं गई
तो विधवा रोती है।

क्या आज भी विधवा के पास मृत्यु के सिवाँ कोई विकल्प नहीं है। अभी औरत की आज़ादी सहने लायक नहीं हुआ है पुरुष और कविता पश्चिम की तरह आधुनिक हो गई। क्या हत्या की संस्कृति का पर्दाफाश करने को केवल स्त्री ही मिलती है। और वे भी राजकमल की तरह पतिव्रता और रखैल के द्वंद्व में उलझ जाते हैं। 'पागल औरत' कविता में पागलपन के कारण क्या हैं? कौतूहल में मोटर संभालते कवि को 'चदरा खोले नंगी स्त्री' का नंगापन ज़्यादा दिखता है, वे लिखते हैं—

कारखाने अहाते के उस पार
कलमुँही चिमनियों के मीनार
उदगार-चिन्हाकार,
मीनारों के बीचों-बीच चाँद का टेढ़ा मुँह
लटका

केदार की कविताओं में भी हथौड़ा उठाए मजदूरों के चित्र आते हैं, पर वे वैसे सघन नहीं होते, जैसे किसानों से संबंधित उनकी कविताओं में। अतः मुक्तिबोध की कविताओं में अगर किसान छूट जाता है, तो केदार के यहाँ मजदूर पूरी तरह आ नहीं पाता। और जिसे अक्सर मुक्तिबोध का सिजोफ्रेनिया जनित मनोविकार दिखाया जाता है, वह मजदूरों का यथार्थ है। क्योंकि प्रदूषण व शोषण की काली छाया में मानसिक संतुलन बनाकर कठिन कार्यों को अंजाम नहीं दिया जा सकता। इस तरह केदार व मुक्तिबोध समान लक्ष्य के रास्ते में एक-दूसरे के पूरक हैं, कम-ज्यादा या जुदा नहीं।

'श्रम का सूरज' नाम के कविता-संग्रह में केदार जी की कविताओं से एक चयन रामविलास जी ने किया था। जिसमें उनकी 1945 से '85 तक के लंबे कालखंड में लिखी गई कविताएँ संकलित हैं। संग्रह का पहला खंड 'घन गरजे जन गरजे' है। इसमें किसानों के उल्लास व विजयबोध को ध्वनित करती कविताएँ हैं—

घन गरजे जन गरजे
बंदी सागर को लख कातर
एक रोष से
घन...

और यह कविता किसी राज्य या देश विशेष के श्रमिकों के लिए नहीं, यह हिंद, बर्मा, अरब, पैलेस्टीन, वियतनाम व दुनिया-भर के श्रमिक जन के विजय अभियान के लिए है। वियतनाम में अमेरिकी पराजय को रेखांकित करता कवि लिखता है— 'चींटी ने/ हाथी को जेर किया/ हाड़ों के पर्वत को/ मिट्टी का ढेर किया।' देश आजाद हो रहा है, आजादी पूरी नहीं है, साम्राज्यवाद से छुटकारा मिला है, पर उसके वंशज अभी भी छाती पर मूँग दल रहे हैं। पर कवि को विश्वास है अपनी जनता पर कि यह हर लड़ाई लड़ लेगी। क्योंकि यह धरती उसी की है। यह वो जनता नहीं है, जो आजादी के वक्त दिल्ली में महात्मा गाँधी की जय के साथ माउंटबेटेन की जय भी बोल रही थी। यह वेवेल व एटली के साथ लंदन में डिनर उड़ाते नेताओं की भरमीली बातों पर ताल देने वाली जनता भी नहीं है। कवि लिखता है—

खून चाटती हुई वायु में
पैनी कुसी खेतं के भीतर
दूर कलेजे तक ले जाकर

जोत डालता है मिट्टी को
यह धरती है उस किसान की
नहीं कृष्ण की
नहीं राम की
नहीं तेग तलवार धर्म की

दूसरे खंड की कविताएँ राजनीतिक व्यंग्य बाण चलाती चलती हैं। राजनीतिक व्यंग्य हालाँकि नागार्जुन का स्थायी भाव है, पर केदार की कविताओं में एक बाँकापन है, जो उन्हें नागार्जुन से अलग करता है।

हमका न मारौ नजरिया
ऊँची अटरिया माँ बैठी रहौ तुम,
राजा की ओढ़े चुनरिया।
वेवेल के संग माँ घुमौ झमाझम,
हमको बिसार गुजरिया

इसी खंड में रामराज पर व्यंग्य करती एक कविता है। एक गाँधी का अहिंसा पर टिका रामराज था, जिसका अंत बँटवारे के समय बही खून की नदी के साथ हुआ, एक नेहरू का था, जिसके तहत हमने विस्तृत भूभाग खोया, एक रामराज नाथूराम का भी था, जिसकी धर्मध्वजा अब उत्तरप्रदेश में फहराने को है। पर राज किसी भी राम का हो, स्थितियों में अंतर नहीं पड़ता, यहाँ केदारजी की कविता प्रासंगिक हो उठती है—

आग लगे इस राम-राज में
ढोलक मढ़ती है अमीर की
चमड़ी बजती है गरीब की
खून बहा है राम-राज में

तीसरे खंड में श्रम की चुनौतीपूर्ण अभिव्यक्ति की कठोर गतिशील कविताएँ हैं। एक श्रमिक की संतान के जन्म पर वे लिखते हैं—

माता रही विचार
अँधेरा हरनेवाला और हुआ
सुन ले री सरकार
कयामत ढाने वाला और हुआ
एक हथौड़ेवाला घर में और हुआ

इन पंक्तियों को पढ़कर आमजन के भीतर शिथिल पड़ी श्रमिक ग्रंथियाँ भी सक्रिय हो उठती हैं। और हम कुछ गढ़ने को बेचैन हो उठते हैं—

जिंदगी को
वह गढ़ेंगे जो खदानें खोदते हैं
लौह के सोये असुर को

कर्म रथ में जोतते हैं जिंदगी को
वह गढ़ेंगे जो शिलाएँ तोड़ते हैं

और श्रम की जीवित प्रतिकृति हमारे समक्ष खड़ी हो जाती है।

जो जीवन की आग जलाकर आग बना है
फौलादी पंजे फैलाए नाग बना है।

इन पंक्तियों में लगता है कवि ने आग की रौ मिलाने के लिए नाग लिख दिया है, क्योंकि सर्प जिजीविषा के प्रतीक नहीं कमजोर जीव होते हैं, हल्की खरोंच लगने पर भी वे जीवित नहीं रह पाते, चीटियाँ उन्हें खोज कर मार डालती हैं। साँपों की पकड़ व फौलादी पंजों में भी सादृश्यता नहीं है। एक हड्डी टूट जाने पर साँप घिसट भी नहीं सकता, जबकि फौलादी पंजों की बात ही कुछ और है। इसी खंड में किसानों की ऊर्जाशीलता दर्शाती एक कविता की पंक्तियाँ देखें—

जल्दी-जल्दी हाँक किसनवा
बैलों को हुरियाए जा,
युग की पैनी लौह कुर्सी को
'भुई' में खूब गड़ाए जा।

इस कविता को पढ़ते हुए मगही के कवि मथुरा प्रसाद 'नवीन' की कविता पंक्तियाँ याद आती हैं—

चल रे गोला चल रे मैना
राह में केखनो अटके नै,
राहे राह अन्हरिया कटतौ
काँधा अपने पटके नै।

केदार जी जहाँ किसानों को संबोधित करते हैं, नवीन जी ने खुद किसान बनकर बैलों को संबोधित किया है। इन कविताओं में ऊर्जा, गति व जिजीविषा की अप्रतिम झाँकी मिलती है।

चौथे खंड में किसानों की वसीयत पर एक दारुण व्यंग्य कविता है—

जब बाप मरा तब यह पाया भूखे किसान के बेटे ने,
दीमक, गोजर, मच्छर, माटा
ऐसे हजार सब सहवासी।
बस यही नहीं, जो भूख मिली
सौगुनी बाप से अधिक मिली।

मदरास में घूमता कवि जब ऊँची इमारतों के साथ सूरज के अगिन-यान से कुचलता सागर-लहरी देखता है तो उच्छ्वासित हो उठता है—

देह में दहकती खड़ी हैं
सुंदर गुनाह किए
सूर्य से दंडित, ऊँची इमारतें।

यहाँ गुनाह शब्द की ध्वनि धर्मवीर भारती के गुनाह से अलग नहीं हो सकी है। पाँचवें खंड में धूप के चित्र-विचित्र रूप, रस, ध्वनियों को व्यंजित करती कविताएँ हैं—

धूप धरा पर उतरी
जैसे शिव के जटा-जूट पर
नभ से गंगा उतरी।

(या) *शिव के नंदी सा नदिया में पानी पीता*
निर्मल नभ अवनी के ऊपर विसुध खड़ा है
काल काग की तरह ठूँठ पर गुमसुम बैठा
खोयी आँखों देख रहा है दिवा स्वप्न को।

सुबह की ऐसी सहज, समर्थ तस्वीर और कहाँ मिलती है। हर कवि कभी न कभी काल को चुनौती जरूर देता है। श्रीकांत वर्मा सा काल-कवलित होने से डरता कवि अपवाद ही होता है। उर्वशी में शौर्य के दंभ में पुरूरवा नहीं दिनकर ही हुँकारते हैं—

मेरी बाँहों में गरुड़ गजराज का बल है
उर्वशी अपने समय का सूर्य हूँ मैं।

शमशेर भी काल से सीधी होड़ लेते हैं—

काल
तुझसे होड़ है मेरी : अपराजित तू—
तुझमें अपराजित मैं वास करूँ।

केदार जी भी सूरज से आँखें मिलाते हैं—

मैंने आँख लड़ाई
गगन विराजे राजे रवि से, शौर्य में,
धरती की ममता के बल पर
मैंने ऐसी क्षमता पाई।

सूर्य काल की घड़ी की एक सूई है। दिनकर दंभ में खुद को ही सूर्य कह देते हैं, इसीलिए वे अंत में हारते हैं काल से और हरिनाम लेते हैं। काल से होड़ शमशेर भी लेते हैं व अपने को अपराजित कहते हैं, पर वे यह नहीं भूलते कि उनकी अपराजितता अपराजित काल का ही अंश है। केदार जी का भावार्थ भी वही है, पर यहाँ काल को चुनौती का यथार्थ ज्यादा स्पष्ट है। सूर्य अगर बड़ी सूई है, तो धरती काल की छोटी सूई है। और काल की इकाई में उनका बड़प्पन-छुटपन कोई मानी नहीं रखता, दोनों एक-दूजे के अग्र व अनुगामी साथ-साथ हैं। और यह चुनौती दोनों के अंतरसंबंधों का उद्घाटन है। इस चुनौती के पीछे ममता की, प्यार की शक्ति काम करती है।

'खेत में जो अन्न कच्चा ही खड़ा था
आज कंचन सा मधुर वह पक रहा है।'

ये इस खंड की अंतिम पंक्तियाँ हैं, यहाँ लालित्य के अतिरिक्त समावेश के फेर में कवि द्वारा परंपरागत बिंबों को लाया जाना कविता को एक मधुर विडंबना में बदल देता है। यूँ सोना व स्वर्ण की जगह कंचन का प्रयोग कर कवि ने इससे बचना चाहा है, पर बिंब का मूल्यबोध जड़ होने से नहीं बच सका है। भला सोना पकते हुए मधुर किसे व कैसे लग सकता है। अन्न के पकने की जो एक सुगंध होती है, वह कविता में नहीं आ सकी है। इस सुगंध की पकड़ उनके बाद की पीढ़ी के कवि केदारनाथ सिंह की कविताओं में शिद्दत से मिलती है।

'श्रम का सूरज' का छट्ठा खंड केन नदी से संबंधित है। कवि का जीवन केन के किनारे बीता है। केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में जो एक अलहदा सजलता है, निजी शप्फाकपन है, गतिशील कर्मठता है, उसका अधिकांश कवि ने इसी केन के किनारे प्राप्त किया है—

तेज धार का कर्मठ पानी
चट्टानों के उपर चढ़कर,
तोड़ रहा है तट चट्टानी।

और केदार की कविताओं की ताकत यही सादगी व सच्चाई की ताकत है, जिसके सघन गतिशील दबाव में चट्टानी तट भी टूटते चलते हैं। 'नदी एक नौजवान ढीठ लड़की है' कविता में भी यह पवित्र बोध स्पष्ट है। इसकी तुलना अज्ञेय की कविता पंक्तियों से की जा सकती है।

सो रहा है
घुप्प अँधियाला
नदी की जाँघ पर।

और

नदी एक नौजवान ढीठ लड़की है
जो पहाड़ों से मैदान में आई है
जिसकी जाँघ खुली है
और हंसों से भरी है।

नदी की जाँघ के बहाने जहाँ अज्ञेय की विकृत यौन मानसिकता के दर्शन होते हैं, वहीं केदार जी वहाँ हंसों की जमात देखते हैं। अज्ञेय की भव्यता की कुंठा, जो उनका स्थायी भाव है उसका खुलासा यहाँ भी हो जाता है। जवानी को देखने के बाद उसके सौंदर्य को मुकम्मल रखने के लिए चाहते तो केदार भी उसका गर्भपात करा सकते थे। पर वे जवानी के बाद का सौंदर्य मातृत्व में देखते हैं, इसीलिए वे अंधियाले की जगह हंसों की किलकारी मारती जमात देखते हैं।

सातवें खंड में प्रकृति को केंद्र में रखा गया है। एक कविता में कवि बरगद को शोषण के परंपरागत प्रतीक के रूप में ना रखकर उसे चिड़िया-चुनमुन के विशाल आश्रय

के रूप में देखते हैं। आठवें खंड में आम जन के जागरण बोध की व व्यंग्य कविताएँ हैं। एक कविता मुक्तिबोध पर भी है। नवाँ खंड पत्नी को संबोधित कविताओं का है—

गया ब्याह में युवती लाने
प्रेम ब्याह कर संग में लाया।

कवि का प्रेम अमूर्त, पलयनवादी व यथार्थ से कटा प्रेम नहीं है। प्रेम व यथार्थ का ऐसा अंतरर्ग्रंथन हिंदी कविता में और नहीं मिलता—

हे मेरी तुम
सब चलता है
लोकतंत्र में
चाकू-जूता-मुक्का-मूसल और बहाना।

संग्रह के अंतिम भाग में जो कविताएँ रामविलास जी ने संपादित की हैं, उनमें जिजीविषा, कवि की क्रांतिकारी चेतना व समय, समाज के प्रति उसकी प्रतिवद्धता को ध्यान में रखा गया है—

मैं लड़ाई लड़ रहा हूँ मोरचे पर
आप ही अपने हृदय के द्वंद्व को मैं मारता हूँ
वह अभी तक सूरमा था
दक्ष भी था
क्रूर भी था
मैं उसे अब जीतता हूँ

एक कविता में कवि विश्वास व्यक्त करता है कि वह समय की दिशा व गति को नियंत्रित कर रहा है—

मैं
समय की
धार में
धँस कर खड़ा हूँ।

संग्रह की अंतिम कविता में कवि अपने संघर्ष का विश्लेषण करता है, कि उसकी शक्ति कविता की, ममता व क्षमा की शक्ति है। इसी ने उसे जोड़ा है।

दुख ने मुझको
जब-जब तोड़ा
मैंने अपने टूटेपन को
कविता की ममता से जोड़ा।

•

कविता का नीलम आकाश

राजकमल के समकालीन लेखकों ने उनकी अश्लीलता पर उतना आक्षेप नहीं किया, जितना उनके परवर्ती लेखकों, समीक्षकों ने उनके शील की रक्षा के बहाने अपनी अश्लीलता का इजहार कर किया है। ये उन्हें उपेक्षित बताकर आत्मतुष्ट होते हैं। राजकमल का बचपन जरूर उपेक्षित रहा है, पर अपने लेखन के दौर में उन्होंने उपेक्षा के सारे बंद दरवाजों को दस्तक दे-देकर खुलवाया था तथा एक सापेक्ष सच का दर्शन कराया था, जिसे निरपेक्ष कहकर लोग अपना बचाव करते हैं। उन्होंने लोगों द्वारा एक वर्ग को व्यक्तिगत तथा निरपेक्ष कहकर उसके विरुद्ध की जा रही साजिशों को बेनकाब किया था।

बचपन में राजकमल को अपने परिवेश का यथेष्ट स्नेह नहीं मिल पाया था, कितनों को मिल पाता है? और, वे चले गए थे कस्साबों, अफीमचियों की अंधी बेडौल दुनिया में! उस दुनिया में जिसका इस चाँद, चिड़िया, फूल, विचार और क्रांति की दुनिया की तरह ही एक ठोस अस्तित्व है और जो सार्वजनिक होता है, जिसे अपने स्वार्थ के लिए व्यक्तिगत कहकर उसमें लोगों के हस्तक्षेप से बचना चाहते हैं वे। उन्होंने जीवन का वह रास्ता चुना था, जिसमें हर कदम पर विसंगतियों के नाग फन काढ़े खड़े थे, और वह भी जीवन था, और है। उसे हम भूल जाते हैं अपनी प्रगतिशीलता की रौ में।

उन नागों ने उन्हें डँसा, पर वे मरे नहीं, हालाँकि मृत्यु का भय उन्हें सताता रहा। देखता हूँ कि हमारे बहुत से कवियों को कभी न कभी मृत्यु का भय सताता है। वे सब मृत्यु से जीत तो जाते हैं, पर उससे भयमुक्त नहीं हो पाते। महाप्राण निराला ने लिखा था—

आ रही
मेरे दिवस की सांध्य बेला
पके आधे बाल मेरे
हुए निष्प्रभ गाल मेरे

चाल मेरी मंद होती जा रही
हट रहा मेला

ओज व तेज के प्रतीक दिनकर ने भी अंत में 'हारे को हरिनाम' लिखा ही।

किसी भी भय को कम करने का तरीका यह है कि उसके निकट जाएँ हम, छूकर देखें उसे। श्रीकांत वर्मा ने ऐसा प्रयास किया था—

हम खोद ही तो रहे हैं
जब से हमने सीखा है
फावड़ा चलाना
जब से यह जाना
कि शव है
हर बार पाया
मणिकर्णिका

पर वे भी इस भय से मुक्त नहीं हो सके। अंत में लिखा, 'इस तरह मत मरो/मौत से डरो।'

संभवतः राजकमल को अपने पूर्ववर्त्तियों के अनुभव ने ही उस मृत्यु के भय को कम करने हेतु, उसे निकट से जानने को उन अंधी सुरंगों में जाने को विवश किया हो। जहाँ जाने की हिम्मत अन्य नहीं कर सके, फिर भी जिन्हें मृत्यु ने घेरा। राजकमल 'मृत्यु की जीवित दुनिया में' गए। उसका जहर झेला। उसके नशे में विभ्रमित हुए। मृत्यु के कगार तक जा-जाकर लौटे और आज हम देख रहे हैं कि उनका भय निराधार था और वह हमारे बीच जिंदा हैं।

आज हम देख रहे हैं कि उनके पीछे चलने वाले कुछ युवा उस भय की जिज्ञासा से नहीं मात्र उनके लकीर पर चलते अंधी गलियों में पहुँच जाते हैं। नागों से डँसवाते हैं और नशे में अपना उद्देश्य भूल जाते हैं कि वे कहाँ से आए थे और जब उन्हें बताया जाता है कि उनका उद्देश्य केवल पीछे चलना नहीं था। जाहिर करना था तो वे झूमते हुए राजकमल को उद्धृत करते हैं—

आदमी को
इस लोकतांत्रिक संसार से अलग
हो जाना चाहिए, चले जाना चाहिए
...रंडियों की
काली और अंधी दुनिया में...

वे भूल जाते हैं कि राजकमल नशा कम करने के लिए किसी को उद्धृत नहीं करते थे। वे अपने अंदर तथा बाहर के सच की मशाल थामे अपने अंदर तथा बाहर के अंधकार से जूझते थे। वे 'वियतनाम का युद्ध' अपनी हड्डियों में लड़ा जाता महसूस करते थे। वे जानते थे कि— 'कि शाम को बंद किए गए दरवाजे सुबह नहीं

खुलते'। पर जब वे भाषा, जो कि धरती है, को वेश्या कहते थे, तो तय है कि वे नहीं उनका नशा बोलता था। अब यह फर्क हमें करना है कि कहाँ से उनकी भाषा में अंधी गलियों का जहर घुलता है, जिसे निकट से जानने वे वहाँ गए थे— बहुत हद तक जाना भी था। ये अंधी गलियाँ थीं और हैं— हमें आगे भी इनका सच जानना बाकी है। इसके लिए राजकमल की जिज्ञासा, जिजीविषा तथा उनका आत्मविश्वास भी चाहिए।

राजकमल ने अपनी छोटी लेखन वय में जैसी और जितनी दुनिया देखी थी, उतना देखना व महसूसना और जीना सबके लिए संभव नहीं है। राजकमल की कविता, कहानी, उपन्यासों के निहितार्थ उन्हें बार-बार पढ़ने पर नए-नए बहुरंगे आयामों को सामने लाते हैं। उनकी कविताओं के प्राचीन शब्द, नवीन ध्वनियाँ, नए अर्थ प्रकट करते हैं।

राजकमल की तल्ख सच्चाइयों से बचने की कोशिश में लोग उसे ढँकने को काले लबादे फेंकते रहते हैं। पर दुख होता है जब उनके शुभचिंतक उन लबादों को नोंचने के बजाय उस पर एक और सुनहरा लबादा फेंककर एक नई सच्चाई थोपने का प्रयास करते हैं। ऐसी लीपापोती राजकमल को खोलने की बजाय उसे ढँक लेती है। राजकमल पर लिखी गई धूमिल की पूरी कविता पढ़कर सही अर्थों में राजकमल से परिचित हुआ जा सकता है—

वह सौ प्रतिशत सोना था
ऐसा मैं नहीं कहूँगा
मगर यह तय है कि उसकी शख्सियत
घास थी
वह जलते हुए मकान के नीचे भी
हरा था
एक मतलबी आदमी जो अपनी
जरूरतों में, निहायत खरा था

अंधी गलियों में भटकने वाले कितने हैं जो राजकमल की तरह स्वीकारते हैं—

पूरा का पूरा युद्धकाल
मैंने गलत जिया है

कुरूपता के संगठित रूप का तिलिस्म कितनों ने तोड़ा है। जहर का घूँट पीकर कितनों ने अमृत ओढ़ा है। बहुत कम ने। और राजकमल की तरह शायद किसी ने नहीं? राजकमल की चुनौती स्वीकारते धूमिल ने लिखा था—

मैं उन तमाम चुनौतियों के लिए
खुद को तैयार करना चाहता हूँ
जिनका सामना करने के लिए

छत्तीस साल तक वह आदमी
अंधी गलियों में
नफरत का दरवाजा खट-खटाता रहा
कैंचियों की दलाली करता रहा।

लेकिन, चुनौतियों को स्वीकार करने की ताकत कितनों में है?

अड़तीस साल की अपनी छोटी-सी जिंदगी में उपन्यास, कहानी और कविता की दो दर्जन किताबें लिखने वाले राजकमल चौधरी का हिंदी में मूल्यांकन किया जाना अभी बाकी है। मुक्तिबोध की 'अँधेरे में' की तरह राजकमल की कविता 'मुक्तिप्रसंग' बदलते समय संदर्भों में प्रासंगिक रहेगी। जिजीविषा और मुमुक्षा (मरने की इच्छा) के दो छोरों के बीच यह कविता व्यक्ति के उसके अहं से टकरावों और मुक्ति की गाथा है, जिसके वैश्विक संदर्भ उसे मनुष्यता के लिए संघर्षरत आमजन की कविता में बदल देते हैं—

सुरक्षा के मोह में ही सबसे पहले मरता है आदमी,
अपने शरीर के इर्दगिर्द
दीवारें ऊपर उठाता हुआ
मिट्टी के भिक्षापात्र आगे और आगे बढ़ाता हुआ गेहूँ
और हथियारबंद हवाई जहाजों के लिए
केवल मोह विहीन होकर ही जब कि नंगा-भूखा बीमार
आदमी सुरक्षित होता है...

जार्ज बुश की सुरक्षा के तर्कों वाली हमलावर नीतियों के संदर्भ में राजकमल आज भी वैसे ही प्रासंगिक हैं जैसे कि वे 1966 में थे। संगठनों, संस्थाओं, सेनाओं, शासन-तंत्र के विरुद्ध आदमी की इकाई बचाने की लड़ाई हर जगह लड़ते नज़र आते हैं राजकमल—

...सायरन की लंबी जहरीली चीखों के बाद
फौजी स्वर में हर दफा कोई गरजता है बाहर चले आओ
अभी बम गिरेगा बाहर चले आओ अभी अकाल दुर्भिक्ष पड़ेगा बाहर
चले आओ...सुरक्षा खाइयों में छिपने के लिए
इस अपाहिज बेशर्म आवाज़ को मुझसे जोड़ने के लिए डाकघर अखबार
...कार्यक्रमों का महाजाल
जिसने बुना है...

जीवन को उसकी अंतर्विरोधी विडंबनाओं के साथ जिस तरह राजकमल ने उजागर किया है, वैसा कम दिखता है। 'कंकावती' उनकी छोटी कविताओं का संकलन है, जिसमें कुछ प्रभावी व्यक्तिचित्र भी हैं। अंतर्विरोधों की उजागरी इन कविताओं में भी देखी जा सकती है। राजकमल परेशान रहते हैं कि आदमी दंगा-फसाद करता

है, पर आर्थिक सभ्यता और इतिहास को उजागर करने की लड़ाई लड़ना नहीं चाहता, कि अपनी सफेद नकाब से ऊबा आदमी कहाँ जाए? 'कंकावती' में एक छोटी-सी अच्छी कविता है— 'रोजगार-बेरोजगार'—

दोपहर की छत से लटके हुए आदमी मुँह
से धुआँ उगलते हैं।
दोपहर की सड़क पर लदे हुए आदमी यह करतब सीखने
के लिए हाथ मलते हैं।

व्यवस्था की गुलामी के खिलाफ जाता कविता का यह स्वर राजकमल की मौलिक पहचान है। व्यवस्था की इस साजिश को राजकमल हमेशा बेनकाब करते हैं, यहाँ तक कि यह ऊब उन्हें एक अति पर ले जाती है और वे कह बैठते हैं कि आदमी को इस लोकतंत्री संसार को त्याग अफीमचियों की अंधी दुनिया में चले जाना चाहिए।

दरअसल, राजकमल की यह ऊब लोकतंत्र के 'गतिरोध' से उपजी है, जिसकी सीमा पर हम 1939 से प्रजाजनों के निरुपाय जुलूस में मौसमी झंडे थामे हुए...खड़े हैं। प्रजा की निरुपायता को अपनी निरुपायता के रूप में जब देखते हैं राजकमल तो उन्हें लगता है कि अपनी चेतना में उन्होंने कोई बड़ा काम नहीं किया। 'अमेरिका की आत्मा से' राजकमल की महत्त्वपूर्ण कविता है, जिसमें वे अमेरिकी पाखंड को उजागर करते हैं, कि जिसने हावर्ड फॉस्ट को अँधेरे में गुम कर दिया है, कि जिसके हाथों में बाइबिल और पीठ पे राइफल है, पर राजकमल का विश्वास लोक की शक्ति से डिगता नहीं है और वे सवाल करते हैं कि फूलों को भले जला दे अमेरिका, फूलों की महक कौन जलाएगा।

नीला रंग, स्तूप, बिल्लियाँ, मुड़े हुए घुटने, उदास खालीपन, ये सब बराबर आते हैं राजकमल की कविताओं में। इन्हीं से उनकी कविता का नीलम आकाश बनता है :

नीलमणि मेरी आँखों में अब तक
झिलमिलाती है
नीलम हो जाता है मेरा आकाश...
चार योजनाओं के दुख स्वप्न
भूलकर, इस बार भी कहूँगा
तुमसे, कि सुनो
बादल खुल गए हैं, आकाश में
चाँदनी के पेड़
उग आए हैं।

•

खिलाफ में एक उम्मीद

कोई तीन साल पहले मैथिली के कवि-कथाकार महाप्रकाश ने विस्तार से समझाया था कि कैसे हाल के दशकों में बैंकों व बीमा कंपनियों ने आदमी-आदमी के रिश्तों के बीच सेंध लगाई है। आज के तथाकथित ग्लोबल वीलेज में रिश्तों की उसी छीजन पर अपने पहले कविता-संग्रह 'किसी उम्मीद की तरह' की एक कविता 'कर्ज' में कवि मिथिलेश श्रीवास्तव लिखते हैं—

"किसी लाचार मित्र से अपनी लाचारगी का वर्णन करते हुए हम कहते हैं देखिए पैसा बैंकों में फँसा पड़ा है।"

मिथिलेश श्रीवास्तव का यह पूरा कविता-संग्रह बाजारवाद और ग्लोबलाइजेशन की छद्म उत्तर आधुनिक साजिशों के खिलाफ एक संगठित और हमलावर अभिव्यक्ति है। ग्लोबल वीलेज की तर्ज पर आज अमर एशियाई मुल्कों में फिर से गुलामी की जंजीरें फैलाने की साजिशें हो रही हैं तो इसके बरक्स भारतीय उपमहाद्वीप में लोक भाषाओं और हिंदी के रचनाकारों के लेखन में इसकी खिलाफत का स्वर भी तेज होता जा रहा है। महाप्रकाश, निलय उपाध्याय से लेकर ज्ञानेंद्रपति और ऋतुराज तक सभी बाजार के इन संकटों को पहचान रहे हैं और उसकी मुखालफत कर रहे हैं। मिथिलेश श्रीवास्तव का यह संग्रह भी उसी की एक कड़ी बनता हुआ नई उम्मीदें जगाता है।

संग्रह की पहली कविता का शीर्षक ही हैं 'बाजार के खिलाफ'। इसमें कवि लिखता है—

घर ढूँढ़ता हुआ आदमी उन्हें उचक्का लगता है
और उसकी रुकी हुई छाया से वे डर जाते हैं
घर ढूँढ़ते आदमी को मदारी बनाने से मैं इनकार करता हूँ
मैं इनकार करता हूँ कि मैं जो भी बना रहा हूँ
बेचने की खातिर बना रहा हूँ।

संग्रह की अंतिम कविता 'कमीज' भी बाजार और उस पर बढ़ रहे अमेरिकी वर्चस्व की खिलाफत करती है।

अपार जनसंख्या वाले देश में
भीड़ और अपमान से बचने का एक उपाय डॉलर है
...
डालर हमारी कमीज खरीदता है
हम उसकी बंदूकें खरीदते हैं।

संग्रह में अतीत के कस्बाई-नागरी जीवन के प्रति आकर्षण साफ दिखता है पर अतीत पर मात्र एक खामख्यालीपूर्ण निगाह डालकर चुप नहीं हो जाता कवि बल्कि उसकी निर्भीक आलोचना भी करता है। 'जहाँ मैं लौटता हूँ' कविता में कवि लिखता है–

यहाँ मैं कभी-कभार लौटता हूँ
यहाँ रोशनी बहुत कम है मुझे डर नहीं लगता
दोस्त मुझे पहचान लेते हैं कम रोशनी में भी
यही मेरा अपना शहर है
...
यहाँ हवा फैलाती है पूरे शहर पर
किसी स्त्री की सिसकियाँ।

यहाँ अंतिम पंक्तियों में कवि अपने नगर की विडंबना को जाहिर कर देता है कि वहाँ स्त्रियाँ मुक्त नहीं हैं त्रासदी से पर वहाँ स्त्री की पीड़ाओं पर पूरा शहर कान भी देता है। महानगरों की तरह वहाँ कोई चौंध नहीं है जिसमें उनकी पीड़ाएँ गुम हो जाएँ।

नगर के पिछले जीवन को लेकर द्वंद्व है कवि के भीतर पर जिस महानगरीय परिवेश में वह दिन काट रहा है उसका निषेध स्पष्ट है कवि के यहाँ। 'सूरज का घर' कविता में वह लिखता है–

दो रोटी की व्यवस्था
मेरी माँ अपने पास ही
कर सकने में समर्थ होती
मैं वहीं होता माँ के पास
जहाँ से सूरज का घर
दस कदम पर जान पड़ता है।

अपने वर्तमान महानगरीय परिवेश में पूरी तरह असंतुष्ट होकर भी कवि अपने पिछले ग्रामीण-नागरी अतीत के सम्मोहन में न डूबकर उस समाज के चलन पर सवाल भी खड़ा करता है। 'चलन' कविता इसका अच्छा उदाहरण है।

मैं एक सभ्य समाज के चलन पर चल रहा था

मेरे आठ वर्षीय बेटे के सामने हाथ जोड़े हुए
वे (माँझी काका) खड़े थे और मैं चुप था।

यहाँ अपने अतीत की आलोचना करता कवि उसे आत्मालोचना तक ले जाता है। यह कविता कवि की रचना-प्रक्रिया से भी पाठकों को परिचित कराती है और बतलाती है कि कवि धूमिल की तरह बातों को खोलकर कहने में विश्वास करता है। यूँ धूमिल भी देश-दुनिया की बाबत जिस तरह खोलकर कहते हैं, उस तरह अपने आप और निजी परिवेश की गुत्थियों पर सवाल नहीं उठाते। खुद को देखनेवाली यह आत्मद्रष्टा आँख परंपरा में मुक्तिबोध के यहाँ सर्वाधिक खरे रूप में है और मिथिलेश श्रीवास्तव के यहाँ भी उसकी एक झलक देखकर खुशी होती है।

भावुक कलाबाजियों और करुणा की अकर्मण्य लय से बचाकर भी सशक्त कविताएँ लिखी जा सकती हैं, इसका उदाहरण हैं मिथिलेश की कविताएँ। रघुवीर सहाय ने भी लिखा था– 'जहाँ बहुत कला होगी कविता नहीं होगी।'

'बेटियों की उक्त झाँकते दोस्त' कविता भी कवि की साफगोई युक्त ताकतवर अभिव्यक्ति का उदाहरण है। अपने यहाँ स्त्री-विमर्श तो बहुत है पर लोग 'पूँछ उठाने से' बाज नहीं आते। यहाँ तक कि स्त्री पर लेखन के लिए चर्चित महत्त्वपूर्ण कवि रघुवीर सहाय भी एक गलत चीज के जस्टीफिकेशन के लिए स्त्री प्रतीकों का उपयोग करते नजर आते हैं। सहायजी भी अकारण ही स्त्री को 'पतुरिया की तरह झुककर' सलाम करने को बाध्य करते हैं। पर मिथिलेश श्रीवास्तव की यह कविता वस्तुस्थिति को जिस तरह सामने रखती है वह हमें विचलित करती है। स्त्री की दुर्दशा को लेकर ऐसी विचलन पैदा करने वाली कविताएँ उनके पूर्ववर्तियों में मात्र विष्णु खरे के पास हैं। मिथिलेश की इन कविताओं में स्त्री की डबडबाई आँखें नहीं, चीखों की लिपि छिपाए उसकी पीठ है।

तीन ब्याह दी गई
जल्दी ही बड़ी बेटी के पति ने उसे छोड़ दिया
नौकरी के लिए वह फिर से पढ़ेगी।

इस कविता का व्यंग्य रघुवीर सहाय की स्त्री-संबंधी कविताओं की तरह स्तंभित नहीं विचलित करता है। यह 'पढ़िए सीता बनिए गीता' के आगे की स्त्री है।

'बच्चे चाहिए' संग्रह की महत्त्वपूर्ण कविताओं में एक है। बच्चों के पक्ष-विपक्ष में दी जाने वाली दलीलों को संदर्भ बनाता कवि इसमें व्यापक अमानवीयता को जाहिर करता है। यह कविता बच्चों के बहाने हमारी राजव्यवस्था, बाजार और मृतप्राय शिक्षा-पद्धति पर भी प्रकाश डालती है।

लेकिन बच्चे चाहिए
राष्ट्रीय ध्वज फहराते राष्ट्रपति को कौतूहल से देखने के लिए
ब्लैक-बोर्डों के मरे हुए सफेद अक्षरों के लिए

कविता के संदर्भों के लिए कवि ने चित्रकला की दुनिया के रूप में अच्छा विकल्प तलाशा है। चित्रकला को संदर्भ बनाना नित नए रूपों में महानगरों का रुख करती ग्रामीण-कस्बाई-नागरी आबादी को संदर्भ बनाने की तरह है। महानगरों के मृत होते जीवन में कविता को जीवित रखने के लिए इन विकल्पों के बगैर कविता में आगे नहीं बढ़ा जा सकता। यह अच्छी बात है कि मिथिलेश महानगर के सर्वग्रासी पंजों को पहचान रहे हैं। इस तरह कविता और जीवन को भी तलाश रहे हैं। इस तरह कविता और जीवन को लंबे समय तक चित्रकला और अन्य रचनात्मक माध्यमों से सामने आ रही नवतुरिया जमात के सहारे अपनी जड़ों को जनमानस की निचली कतारों तक फैलाने का मौका मिलता है। और संदर्भों की अच्छी खुराक भी अपनी इस पहचान के प्रति कवि सजग और प्रतिबद्ध भी है—

उदास रंग उन्हें पसंद नहीं आता तो नहीं आए
कैनवस का रंग चटकदार मैं नहीं बनाता।

•

करुणा का आलोक रचती कविताएँ

मैथिलीशरण गुप्त, निराला, महादेवी वर्मा से लेकर रघुवीर सहाय और आलोक धन्वा तक जिसने भी नारी की मूलभूत संवेदनाओं को पकड़ने की कोशिश की है उसने दुखों की एक जीवंत कथा रची है। 'एक दिन लौटेगी लड़की' की कविताओं में गगन गिल ने भी दुखों की इसी कथा को जीवंत अभिव्यक्ति दी है।

संग्रह की आरम्भिक पंद्रह कविताओं का पहला खंड मनोवैज्ञानिक, मार्मिक और संप्रेपनीयता के स्तर पर जटिल है। पर इस जटिलता का कारण कविताओं में नहीं हमारे दृष्टिकोणों में है। अपने सारे संघर्षों और बदलावों के बाद भी हमारा प्रगतिशील तबका आधी दुनिया के दुखों को आज भी सरसरी तौर पर ही लेता है। उनके निजी संघर्षों को वह अपने उपयोगितावादी तराजू पर तौलता है। उसके होंठ लहूलुहान होते हैं और हमारी अंधी अपेक्षाएँ वहाँ फूल ही ढूँढती हैं।

ऐसे में गगन गिल की कविताएँ मार्मिक चुनौती के रूप में सामने आती हैं। इनमें लड़कियाँ हैं। अबोले दुखों के बोझ से झुकी हुई लड़कियाँ, उनके भार से गूँगी हुई लड़कियाँ। वे हमारे कंधे छूती हैं, विषम हँसी हँसती हैं और चली जाती हैं। यही चुनौती है। अपना दुख बाँटने को नहीं कहती हैं लड़कियाँ। आप में संवेदनाएँ हैं, कुव्वत है तो बढ़ें और बाँटें उनका दुख। दुख जिनके कारक आप हैं।

लड़कियों से संबंधित सारी कविताओं में एक पूरी कथा है व्यथा की। किससे कहे लड़की। कौन सुनेगा इसे। विश्वास भी करेगा। किसी सहृदयी ने विश्वास किया भी, तो क्या उसे लेकर लड़ेगा भी और इसीलिए अकेली है लड़की, उदास भी और हँसी के बारूद पर बैठी है। फैज खूब समझते थे इस अफसुदाहँसी को।

'लड़की अभी उदास नहीं है' कविता में दर्शाया गया है कि किस तरह भारतीय समाज में लड़कियों को सुहागन बनाने की प्रक्रिया में अभागन बना दिया जाता है। किस तरह उनकी हर फड़कती नस को मुर्दा रंगीन रेखाओं में तब्दील कर दिया जाता है। वह जान भी नहीं पाती कि क्या हो रहा है और जब उसका सपना टूटता है तब वह उदास हो जाती है—

वह लौटना चाहेगी

माँ की गोद में
पिता की धूप में और लौट नहीं पाएगी जब
तब होगी उदास
लेकिन बहुत दिनों बाद।

'चौबीस पार करती लड़की' में लड़कियों का समय और समाज से होता संघर्ष है, जिसमें आधुनिकता की चाहत में अपनी त्वचा को रंगती, पोतती, उसकी पर्तें खोदती अपना सौंदर्य खोती चली जाती है वह और ऐसा एक दिवालिया जिद में करती है–

लेकिन आजकल वह जिद में है
अपनी देह का सादापन धीरे-धीरे
उखाड़ती हुई!

गगन गिल की लड़कियों पर केंद्रित कविताओं की मुख्य विशेषता उनकी निर्मल करुणा का ममतामय भोलापन है। जिसे छूते भी भय लगता है। उसे छूना जैसे उदासी को छूना है। 'मर्सिया' कविता की पंक्तियाँ देखें–

माँ की उम्र के इस मौसम में क्या खाकर मरोगे बेटे?

करुणा का जैसा आलोक इन कविताओं में है विरले ही कहीं और होगा। करुणा की अभिव्यक्ति की इसी प्रतिभा को लेकर आलोक धन्वा खासे चर्चित हैं। पर एक ओर ये कविताएँ आलोक जी की करुणा के पीछे अलंकार के रूप में जो दुहराव होता है उससे मुक्त हैं, तो दूसरी ओर उनके यहाँ करुणा के साथ जो युग के सवाल होते हैं उसका उस रूप में यहाँ अभाव भी है। यहाँ सहजता है करुणा की, जो किसी ममतामयी नारी में ही हो सकती है।

माताएँ हमारे यहाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी किस तरह अपनी पुत्रियों को कुंठाएँ सौंपती हैं और बतलाती हैं कि ये ही सुख हैं। उसे देखना हो तो 'एक उम्र के बाद माँ' कविता देखें–

बीत जाएँगे, जैसे भी होंगे
स्याह काले दिन,
हम हैं न तुम्हारे साथ!
कहती हैं माँएँ
और बुदबुदाती हैं खुद से
कैसे बीतेंगे ये दिन, हे ईश्वर!

प्रेम पर कुछ कविताएँ इस संग्रह में हैं। इनमें दिखाया गया है कि किस तरह बार-बार लड़कियों को लुभाता है प्रेम और धोखा देता हुआ खुद शोक में बदल जाता है। प्रेम पर एक बिल्कुल ईर्ष्यामुक्त दृष्टिकोण भी उभरता है इनमें। संग्रह के दूसरे खंड में कवयित्री की आरम्भिक कविताएँ हैं। इनमें वैसी सघनता तो नहीं है पर ममता का करुण स्वर वहाँ भी गहरा है।

दादी माँ को केंद्र बनाकर चार-पाँच कविताएँ भी संग्रह में हैं, जो हाल की हैं। जिनके शिल्प में निखार आया है, स्थितियों के स्थापत्य पर उनकी पकड़ बढ़ी है और शिल्प के विकसित होने पर करुणा का वह पुराना वेगवान स्वरूप ढहेगा ही, जो ढहा है–

जिनका इंतजार कर रही है दादी माँ/ वे कमबख्त/ वहाँ आने के लिए/
एक 'खबर' का इंतजार कर रहे हैं।

ये कमबख्त और कोई नहीं उनके बेटे हैं और उन्हें इंतजार दादी की मौत की खबर का है। इन कविताओं में नई पीढ़ी द्वारा पुरानी पीढ़ी की खोज-खबर के तरीके पर एतराज जताया गया है।

पोती द्वारा दादी पर लिखी ये कविताएँ प्रौढ़ता का भी परिचायक हैं कि उनके पास मात्र संवेदनाएँ ही नहीं एक सकर्मक दृष्टि भी है जो जाति, उम्र या परम्परा के आधार पर किसी का तिरस्कार नहीं करतीं।

'पंजाब की एक बस' कविता में आतंकवादियों पर खीजती कवयित्री शुरू तो करुणा से करती है पर निर्दोषों की हत्या इस करुणा को क्रोध में परिणत कर देती है– और वह किसी को भी माफ नहीं कर पाती–

पता नहीं उसने आखिरी वक्त
किसी गुरु-पीर को याद किया कि नहीं?
पता नहीं वह 'धर्म' के नाम पर
थूक सका कि नहीं

पर कवयित्री का मूल-स्वर करुणा क्रोध पर हावी हो जाती है–

तुम सोने क्यूँ लगे हो लोंगोवाल?
जब बहुत उदास हो जाएँ
तो क्या यूँ सो जाना चाहिए?

अमृता प्रीतम पर कवयित्री ने शोध भी किया है। 'उसे कुछ नहीं चाहिए था', जैसी एक-आध कविता पर उनका अप्रत्यक्ष प्रभाव भी दिखता है। पर लड़कियों पर केंद्रित सारी कविताएँ, जिनसे कि गगन गिल की अपनी पहचान बनती है वहाँ उनकी संवेदनाएँ खुलकर खिलती हैं और वहाँ वे अमृता प्रीतम के सपाट रोमानीपन से पूरी तरह मुक्त हैं।

कुल मिलाकर महादेवी के बाद हिंदी में एक नया हस्ताक्षर उभर रहा है जिसने नारी-जीवन की विडंबनाओं को उसकी सांद्रता में उद्घाटित करने का साहस दिखाया है। दुख की इस नदी में बाढ़ तो भयानक है और यह नहर नाकाफी पड़ती है। पर तिनके को भी त्याग दें हम, तो जिएँ कैसे?

•

राजनीतिक कविताओं की जरूरत

आज जब समाजवाद के विनाश का ढिंढोरा पीटने के बाद राजनीति से ज्यादा साहित्य में पाला बदल धमा-चौकड़ी मची है और अपने पिछले चेहरों पर कालिख पोतते साहित्यकार व आलोचक ब्रह्मराक्षसों के शरणागत हो रहे हैं और काव्य-जगत में प्रेम और प्रकृति के छद्म चमत्कार सामने आ रहे हैं; ऐसे हालावादी समय में राजनीतिक भाषा की संवेदनशील दृढ़ता के साथ कविता में जमे रहना यही मदन कश्यप की ताकत है। जब वे लिख रहे होते हैं कि– "योरोप के सारे बूचड़खानों पर सौंदर्यशालाओं के बोर्ड लग गए हैं।" तो वे रघुवीर सहाय की तरह ग्लोबलाइजेशन के योरोपीय, अमेरिकी षड्यंत्र का पर्दाफाश कर रहे हैं। योरोप शीर्षक कविता में–

सहाय जी ने लिखा था–

टेबल पर गोश्त ही गोश्त
बस खाने का ढंग सभ्य है
काँटे चम्मच से।

इस संदर्भ में जब हम खुलेपन के नाम पर पिछले वर्षों में बड़े पैमाने पर आयातित भौंड़ेपन पर निगाह डालें, तो पता चलेगा कि हम किस कदर फिर गुलामी की ओर बढ़ रहे हैं। और ऐसे समय में राजनीतिक संदर्भों वाली कविताओं की जरूरत और भी बढ़ जाती है। क्योंकि आतंक और विकृत सौंदर्यबोध का प्रभाव हमारी युवा पीढ़ी पर बढ़ता जा रहा है तभी तो अपनी शेखी के लिए चर्चित युवा कवि बद्रीनारायण लिखते हैं– 'इस पूरी सदी में छाये रहे हत्यारे।' जिस सदी का चौथाई हिस्सा वे प्रेमगीत लिखते गुजारते हैं, पुरस्कार व अनुदान प्राप्त करते हैं उसे हत्यारों की सदी कहते हैं। लेनिन, विवेकानंद, गाँधी, नेहरू, भगतसिंह, सुभाष, माओ और मंडेला की सदी के बारे में ऐसा कहना क्या हमारी सोच का दिवालियापन और राजनीतिक रूप से हमारे आतंक को नहीं दर्शाता है। ऐसे समय जब बद्री रिरियाते हुए लिख रहे होते हैं– 'रोको। रोको।' उसी समय मदनजी रात को इस आतंक को चुनौती देते लिख रहे होते हैं–

वह पार कर लेगी रात और रास्ता भी

कोई भी जंगल कविता का रास्ता
नहीं रोक सकता।

वे उसकी ताकत के प्रति आश्वस्त करते लिखते हैं कि–

शब्द कोई डोडा नहीं/ कि भारते-भारते आप मार ही डाले उन्हें।

रघुवीर सहाय की मृत्यु और केदारनाथ सिंह की निष्क्रियता के बाद जब समाजवादी सत्ताओं का अंत हुआ, अमेरिकी मीडिया ने इस तरह की हवा बनाई कि साहित्य में भी अराजकता का माहौल बढ़ा। और अवसरवादी लोग प्रेम और प्रकृति के छायावाद की ओर भागने लगे और रघुवीर सहाय का उत्तराधिकारी अशोक वाजपेयी को घोषित किया जाने लगा। साक्षात्कार के स्वकेंद्रित अंक में वाजपेयी लिखने लगे–

कुछ बदलता नहीं है
सिर्फ लगता है बदल गया
जैसे शब्द-चयन या पराये शहर का मौसम।

और ऐसा वे पेरिस से लिख रहे होते हैं। स्पष्ट है उन्हें पेरिस और दिल्ली में अंतर नहीं महसूस होता। यह सच भी है दुनिया-भर के सत्ता प्रतिष्ठानों में कोई अंतर नहीं है सबका चेहरा एक है। भला उसके लिए, मौसम कैसे बदल सकता है जो एक एअरकंडीशंड कमरे से दूसरे में यात्रा करता फिरता हो। विभेद की दीवार तो इस प्रतिष्ठान से बाहर आने पर ही दिखेगी। पर सवाल उठता है कि इस भटकाव के उत्तरदायी क्या वाजपेयी हैं। नहीं वे तो बस एक खालीपन को भरती हवा की सनसनाहट की तरह हैं। इस खालीपन को फिर हरेपन से भरा जा सकता है। हरियाली इस हवा को सोखकर सन्नाटे के संगीत को खत्म कर अपना जीवंत संगीत पैदा कर लेगी। और तब हम फिर वाजपेयी से सहमत हो सकते हैं कि "कुछ बदलता नहीं है।" बस संघर्ष के तेवर बदलते हैं, हथियार बदलते हैं। इस हरियाली के बीज आज मदन कश्यप, निलय उपाध्याय आदि की जो कविताओं में साफ दिखते हैं। जब मदन लिख रहे होते हैं कि–

अभी भी बचे हैं
कुछ आखिरी बेचैन शब्द
जिनसे शुरू की जा सकती है कविता

तब मुक्तिबोध याद आते हैं– 'नहीं होती कहीं भी खत्म कविता नहीं होती।'

यूँ कविता को राजनैतिक-गैर राजनीतिक जैसे चौखटे में नहीं बाँधा जा सकता। पर सामाजिक और ऐतिहासिक संदर्भों के आधार पर मदन कश्यप की कविताओं को राजनीतिक कविताओं का संबोधन प्रदान किया जा सकता है, जैसे कि कभी धूमिल, गोरख पांडेय आदि को राजनीतिक रूप से प्रतिबद्ध कवि के रूप में पहचाना गया था। जैसे आलोक धन्वा के यहाँ रेटॉरिक और संघर्ष के सौंदर्यबोध वाले पहलू को रेखांकित किया जा सकता है, अरुण कमल के यहाँ मध्यवर्गीय अंतर्द्वंद्वों की पहचान

की जा सकती है, ज्ञानेंद्रपति के यहाँ सूक्ष्म विश्लेषणात्मक अंतर्दृष्टि को महसूस किया जा सकता है, निलय को लोक संवेदना को अभिव्यक्त करने वाला माना जा सकता है, उसी तरह मदन कश्यप को राजनीतिक-ऐतिहासिक निहितार्थों की प्रमुखता का कवि माना जा सकता है।

'धूप में बारिश' मदन कश्यप की ऐसी कविता है, जो आजादी के बाद देश-भर में धीरे-धीरे विकसित होते जन-संघर्षों की तरफदारी करती-सी दीखती है—

धूप में बारिश
हालाँकि इससे पूरी तरह नहीं बदल पाता है मौसम का मिजाज
मगर कुछ तो कुंद होती है
धूप की धार।

पर इस कविता के साथ एक दिक्कत है कि अगर इसके साथ नोट्स ना दे दिए जाएँ, तो इसका दोहरा अर्थ लगाया जा सकता है क्योंकि यह कविता कॉंग्रेस की तुष्टीकरण की नीति पर भी उसी तरह लागू हो सकती है। इसके अलावे धूप और धरती जैसे पूरक प्रतीकों को क्या एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा करना न्यायोचित नहीं होगा। मैंने पहले किसी की कविता पढ़ी थी, जिसमें धूप में खिलते गुलमोहरों की चर्चा थी। धूप जितनी ही कसी होती है गुलमोहर उतने ही लाल होते जाते हैं। मुझे लगता है जनसंघर्षों के करीब ऐसे प्रतीक शायद ज़्यादा मुखरता से आते हैं।

'प्रयोग जारी है' मदनजी की ऐसी कविता है, जो लगातार विकृत होते जाते राजनीतिक प्रयोगों पर तीखा व्यंग्य करती है—

प्रयोग जारी है उनका
पाले हुए साँपों को
चिड़ियों के पंख लगाने का

और फिलहाल तो इसके लिए चिड़ियों की पाँखें कतरी जा रही हैं। जाति और धर्म के नाग किस तरह कोमल भावों के पंख लगाकर उड़ना चाह रहे हैं इस कविता को पढ़कर जाना जा सकता है। 'पलामू के अकाल' के संदर्भ में एक कविता है 'लिखना', यूँ तो यह एक सरल कविता है, पर इसकी अंतरलय के संदर्भ जैसे करुण प्रसंगों को साकार करते हैं कि कविता एक अमिट प्रभाव छोड़ती जाती है—

लिखना
जो रब मरा या पहले मरी उसकी गाय लिखना
राहत साहबों की बीवियों ने कितने गहने गढ़वाए

'गैंडा' एक छोटी पर तल्ख कविता है। इसमें गैंडे जैसी मोटी चमड़ी वाले राजनीतिज्ञों के जीवन-पद्धति की जाँच-पड़ताल की गई है। कविता के पहले पैरे में एक सवाल है कि गैंडा क्या सब खाता है एक लंबी मीनू है उसके व्यंजनों की, पर दूसरे पैरे में जब सवाल उठता है कि वह क्या करता है तो एक पंक्ति का जवाब

है कि— शायद लीद के सिवा कुछ भी नहीं। 'जादुई आइना' कविता में 'इडियट बॉक्स' पर हो रहे तमाशे की पोल खोली जाती है। आज जब हमारे यहाँ अन्न का उत्पादन बढ़ता जा रहा है आदमी की क्रय-शक्ति और भूख घटती जा रही है, उत्पादक वर्ग को ही लाचार करने की साजिश बढ़ती जा रही है हमारा यह 'जादुई आइना' इस देश को फिर से सोने की चिड़िया बना घोषित करता है। और आइने से झाँकते नरसिंह चिप्स, कोला! और डॉलर का कंगन दिखला रहे हैं।

धीरे-धीरे
वे कहेंगे हमारे सीने का गोश्त
इतनी होशियारी से
कि आधी धड़कन सीने में रह जाएगी
और आधी गोश्त में चली जाएगी
फिर अंतरराष्ट्रीय बाजार में
अंधी कीमत पर बेचेंगे
खून से लथ-पथ धड़कता गोश्त।

'धीरे-धीरे' कविता में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के मायाजाल में हो रहे अमानवीय शोषण को दर्शाने की कोशिश की जा रही है। दुनिया-भर की हरियाली और मानवीय संसाधनों के दोहन की अमेरिकी नीति को अगर हमने ना पहचाना, तो धीरे-धीरे हम नष्ट हो जाएँगे और हमें पता भी नहीं चलेगा। जैसे अपना ही रक्त बेचकर लगातार मरता जाता व्यक्ति अपनी मृत्यु को महसूस नहीं करता, उसी तरह बहुराष्ट्रीय बाजार का अमानवीय भी हमसे हमारी जिजीविषा ही छीन लेगा और हम देखते रह जाएँगे। रूस का उदाहरण सामने है। पहले वहाँ रोटी मिल जाती थी, पर सिगरेट के लिए लंबी लाइन लगानी पड़ती थी आज वहाँ सिगरेट का बहुराष्ट्रीय बाजार है और रोटी के लिए लाइन लगानी पड़ती है। क्या हम अपने देश की हालत भी पूर्ववर्ती नेपाल की तरह कर डालेंगे, जहाँ के बाजार में तो दुनियाभर की चीजें उपलब्ध रहती थीं। पर गरीब नेपालियों की बड़ी आबादी आलू और जंगली घास खाकर जीवन बिताती थी।

कविताओं की इस फाइल में सबसे महत्त्वपूर्ण कविता है 'दयनीय है वह देश', जिसमें कवि कहता है कि—

दयनीय है वह देश
जिसके महात्मा इतिहास के साथ गूँगे हो गए हैं
और शूर-वीर अभी पालने में झूल रहे हैं

दुनिया के नक्शे पर अभी यही हमारी स्थिति है, अपने महात्माओं को तो हम बचा नहीं सके, अगर पालने में झूलते भविष्य को भी नहीं बचा पाए तो हम भी दयनीय हो जाएँगे।

•

हँसी...मेरा कारगर हथियार

लीलाधर मंडलोई हिंदी के उन थोड़े से सचेत और सक्रिय कवियों में हैं, जो कविता के अलावे गद्य की अन्य विधाओं में भी सफलतापूर्वक कलम चला रहे हैं। उनके पास दृष्टि है और जो दिख रहा है, उसे उसके संदर्भ में समझने और उससे जूझने का माद्दा भी। मंडलोई कविताएँ उनकी दृष्टिसंपन्नता को ही पुष्ट करती हैं–

...मुझे होना चाहिए था संसद में
मेरी अनुपस्थिति से अब वहाँ अपराधी
अनुपस्थिति का शाप इतना भयानक
मंदिरों में कब्जा इन दिनों शैतानों का...

मंडलोई की कविताओं से गुजरते हुए मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय और ज्ञानेंद्रपति याद आते हैं। इन कवियों की जद्दोजहद जैसे मंडलोई के यहाँ एक नया रूपाकार प्राप्त करने की कोशिश में छटपटा रही हो। 'रामदास' रघुवीर सहाय की चर्चित कविता है और मंडलोई की एक महत्त्वपूर्ण कविता है 'अमर कोली'। 'अमर कोली' को 'रामदास' के आगे की कविता इन अर्थों में कहा जा सकता है कि रामदास की उदासी इन कविताओं में ज्यादा विस्तार पाती है और अपने समय के क्रूर यथार्थ को यह उसके ज्यादा आयामों के साथ अभिव्यक्त करती है :

शवगृह के भीतर रिक्त था एक बक्सा
प्रतीक्षा में कोली के और
यह जानता हुआ कि आएगा वह...
कुछ और शव थे वहाँ और अब
वह उनमें शामिल था कि जिन्हें
विलम्ब से न्याय के चलते
होना था वहीं कि इसी रास्ते चल रहा लोकतंत्र...

इस हत्यारे लोकतंत्र की बानगी हिंदी कविता में ऐसे विडंबनाबोध और त्रासदीबोध के साथ कम मिलती है। 'भूल-गलती/ बैठी जिरहबख्तर पहनकर/ तख्त पर' जैसी पंक्तियाँ लिखने वाले मुक्तिबोध ऐसे अकेले कवि हैं, जो लोकतंत्र की

दुरभिसंधियों को सर्वाधिक उजागर करते हैं। मंडलोई के एक कविता संग्रह का शीर्षक 'काल बाँका-तिरछा' मुक्तिबोध के यहाँ से ही लिया गया है।

लोकतंत्र की त्रासदियों को उसके आधुनिक संदर्भों में रेखांकित करने वाले कवियों की बड़ी जमात है, हिंदी में। राजकमल चौधरी, धूमिल, लीलाधर जगूड़ी से लेकर रघुवीर सहाय तक सब अपने-अपने ढंग से यह काम करते हैं।

धूमिल के संग्रह का नाम ही था– 'संसद से सड़क तक'। उनके मुताबिक 'संसद तेल की वह घानी है, जिसमें आधा तेल आधा पानी है।' रघुवीर सहाय की 'लोग भूल गए हैं' शीर्षक लंबी कविता के अलावे कई कविताएँ हैं, इन संदर्भों पर।

लीलाधर जगूड़ी की चर्चित कविता 'मंदिर लेन' तो अद्भुत है। अपराध और लोकतंत्र के अंतर्सबंधों को उसके इतने अधिक आयामों के साथ चित्रित करने वाली वह अकेली कविता है। लीलाधर मंडलोई की कविता 'अमर कोली' को 'मंदिर लेन' की कड़ी में रखा जा सकता है। 'उन पर न कोई कैमरा', 'मैं इतना अपढ़ जितनी सरकार', 'आसान है यह विकल्प', 'अनुपस्थिति', 'अनुनय-विनय के शिल्प से बाहर' आदि मंडलोई की अन्य कविताएँ भी लोकतंत्र के विकृत होते चेहरे को दिखाती हैं।

मंडलोई के यहाँ प्रकृति अपनी पूरी ताकत और दर्द के साथ मौजूद है–

सामने पहाड़ है लड़ता
बचाता अपने को भरसक
कोई शब्द अनुगूँज नहीं बनता कि
इतना नंगा-बूचा बचा हुआ आस-पड़ोस...

प्रकृति से संबंधित कविताओं में लीलाधर मंडलोई की शैली ज्ञानेंद्रपति से मिलती है, पर जहाँ ज्ञानेंद्रपति के यहाँ अरण्यरोदन अपने ब्यौरों से उबाने लगता है, वहाँ मंडलोई के यहाँ वह सहज पीड़ा के बोध से भरा दिखता है। हालाँकि दोनों का उद्देश्य एक है। आधुनिक सभ्यता के सर्वभक्षी प्रेतों की कुचेष्टाओं की ओर इंगित करना।

इन कविताओं में लीलाधर मंडलोई का सकारात्मक पक्ष यह है कि वे इन प्रेतों की ओर इशारा ही नहीं करते, उनसे जूझते भी हैं। 'धरती की सुगंध' कविता में वे लिखते हैं–

मैं तोड़ता हूँ सेताब की एक डाली
और पत्तियों को उछालता उनकी तरफ
बची नंगी शाखा से बनाता हूँ दातून
और थूक के गुब्बारे बना घृणा में फेंकता हूँ
मेरी यह देशी तरकीब कितनी कारगर होगी कह नहीं सकता
इस तरह अपने भय से लड़ता हुआ मैं
धरती की सुगंध लेता सिर्फ चीखने की जगह हँसने लगता हूँ
पास-पड़ोस के लोग आते हैं खिंचे मेरी हँसी पर
हँसी जैसे मेरा कारगर हथियार।

•

जख्मों के कई नाम

पश्चिमी जगत में आई वैचारिक स्थिरता के संदर्भ में जिस तरह कविता के अंत की चर्चा हो रही है वह दक्षिण अफ्रीका और भारतीय उपमहाद्वीप के संघर्षपूर्ण विकासशील दौर में अप्रासंगिक साबित हो चुकी है। भारतीय कविता जीवित है। सारे हंगामे के बाद भी। जैसे बुश की हार, मेल्विन के समझौतावादी रूपक, मंडेला की रिहाई और अमेरिकी जातीय दंगों के अंतर्द्वंद्वों से पैदा वैचारिक शून्य के भीतर समाजवाद जीवित है।

हिंदी में विनोद कुमार शुक्ल की अपनी सरलता में जीवन के जटिल सदर्भों को लेकर चलती कविताएँ और 'पहल' में आई, पाकिस्तानी कवि अफजाल अहमद की अपने रोमानीपन में भी जीवन के प्रति एक अन्वेषण दृष्टि को लेकर चलती कविताएँ कविता के नए संदर्भों में खुद को बदल कर जीवित रखने की शक्ति की द्योतक हैं।

सुदीप बनर्जी की आरंभिक कविताएँ भाषा और शिल्प के स्तर पर एक हद तक समर्थ परिवर्तनों का प्रमाण हैं। समकालीन संदर्भों में ये कविताएँ संप्रेषण के स्तर पर जटिल होती गई हैं। कहीं-कहीं वह असद जैदी की तरह भंग की किंकर्तव्यविमूढ़ शैली के निकट भी पहुँच जाती हैं। पर सामान्यतः भाषा की तहों के भीतर जाने पर कई अर्थ खुलते हैं जो कविता को उसकी संघर्षशील परंपरा से जोड़ते हैं।

इस संदर्भ में 'पैदल-पैदल चलकर' तथा 'वह दीवाल के पीछे खड़ी है' इन दो कविताओं का विश्लेषण किया जा सकता है। दोनों कविताओं में स्त्री के उत्पीड़न को दर्शाया गया है। पर जैसे दोनों कविताओं में भारतीय स्त्री का मूर्तन किया गया हो। ऊपर से वह नदी की तरह चंचल, सौंदर्यमयी है। पर भीतर उसकी पीड़ाएँ ऐतिहासिक हैं। पहली पंक्ति में गली-कूँचों में कूड़े के ढेर में जीवन तलाशती औरतों का चित्र है तो दूसरी में रसोईघर की दीवारों में घिसती, जीवन के रंग-बिरंगे चित्र उकेरती खिरती जाती भारतीय स्त्री है।

पैदल-पैदल चलकर
नदी पहुँची है

उस कस्बे में
नंगे पैर
उसके पैरों का माहावर
घुल गया है
मटमैले पानी में
वह कोयले से आँक रही है दुनिया
दीवाल में अपनी तरफ
जो सदियों से उसी तरफ खड़ी है
दीवाल के पीछे
गायब संसार की बेवजह नोंक पर

यह सदियों से दीवार के पीछे खड़ी मध्यवर्गीय भारतीय स्त्री है। जिनके बारे में कवि का कथन है कि उसकी पीड़ा को वह भी कितना पकड़ पा रहा है कि वह नाकाफी है। भीतर दीवार पर कोयले से वह स्त्री अपनी कल्पना को घिसती वन-उपवन, पशु-पक्षी, देश-विदेश चित्रित करती है, उसी में वह अपनी दृष्टि खोती चली जाती है, और बाहर दुनिया झुलस रही है? उसे मरहम की जरूरत है जो ये स्त्रियाँ ही दे सकती हैं? समकालीनता का जहर वह भी बाँट सकती हैं? अगर उन्हें बाहर की दुनिया में बराबरी की हिस्सेदारी दी जा सके?

जंगल और उसके प्रतीकों को लेकर कई कविताएँ हैं संग्रह में। जिसमें सत्ता और व्यवस्था के कई चेहरे सामने आते हैं। और कवि उनके आगे प्रश्नचिह्न लगाता है। कवि खुद व्यवस्था का एक पुरजा है और जब उसका साथ व्यवस्था की विकृतियों से पड़ता है तो कभी तो वह खुद उसमें शामिल होने की कैफियत से खुद से सवाल करता है। कभी उसकी दिशा बदलने के लिए हस्तक्षेप की कोशिश करता है—

पेड़ों को कहा राजा आपने
दरख्त कहा, आग कहा पर वे
टाल बन गए ईंधन के

समय के इस दोमुँहपन को कवि ईमानदारी से उजागर करता है। वह व्यवस्था की सूरत को सामने लाता है। और चेतावनी देता है कि लोग पहले तो डर को समझते नहीं और जब वह उन्हें खाने लगता है तब घबराकर जगह छोड़ने लगते हैं—

...जो रह गए थे
दूसरे मोहल्लों की
तलाश में चल पड़े।

पर इस तरह भागने से तो समस्याओं से निजात मिलने से रही, लड़ना तो पड़ेगा ही आपको? एक और व्यवस्था जीवों के लिए अभयारण्य बनाती है। तो दूसरी ओर चोर-बाजारी में बिकने को उनकी छाल पहुँचा आती है—

जंगल से वापिस अगर लौटेंगे
शहर में तो शहर पूछेगा ही आपसे
क्या बताएँगे उसे आप शेर के बारे में?

'टेम्स' को लेकर बच्चन ने भी कुछ रोमानी कविताएँ लिखी हैं। टेम्स को लेकर एक कविता है संग्रह में जो अपने छिटपुट ऐतिहासिक संदर्भों के बावजूद एक रोमानीपन लिए चलती है। जो अप्रासंगिक नहीं लगती। साइकिल कविता के द्वारा कवि बचपन, युवावय और बुढ़ापे के परिवर्तनों के चित्र खींचता है जो सामान्य हैं।

'काशीनाथ' कविता में कवि बचपन के एक मित्र को याद करता है जिसमें समय और यथार्थ के द्वारा दो हमकदमों के बीच दूरी पैदा कर देने की पीड़ा है पर साथ ही कवि उसके श्रमजीवी स्वरूप का मूल्यांकन करता है और ईमानदारी से उसकी बराबरी की भूमिका को स्वीकार करता है। संवेदना के स्तर पर यह एक सघन कविता है—

उसकी ख़ूबसूरत
कमीज में शरीर को
क्षत-विक्षत कर
गुजर गई बिजली
जमाने भर को
रोशन करती रही
(या)
उसकी फटी कमीज
हिलती रही लम्बवत

सुदीप की कुछ कविताएँ एक दूसरी ही जमीन की कविताएँ हैं। जिनमें संवेदना की लय कुछ ज्यादा ही तीव्र है। जहाँ चिंताएँ गहरी हैं, लगता है कवि एक अंधी सुरंग में फँसा हुआ है पर वह रोशनी को देख रहा है। पहचान रहा है, उस ओर बढ़ रहा है। इसमें कभी तो वह ऊपर को जाता है। कभी डूबने लगता है। कभी हाथ-पाँव मारता किनारे की ओर बढ़ने लगता है—

आसमान तुम्हारे कितने तारे
तुम्हें परेशान करते हैं, जंगल
तुम कितने पेड़ों से उदास होते हो

लगता है कवि की संगत में जंगल, आकाश सब शालीन हो रहे हों, सबकी चिंताएँ कवि की चिंताएँ बन जाती हैं।

•

नवजीवन देने वाली सादगी

अपने निबंध 'काव्य की रचना-प्रक्रिया : एक' में मुक्तिबोध लिखते हैं, ''जगत-जीवन के संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना में समाई हुई मार्मिक आलोचना-दृष्टि के बिना कवि-कर्म अधूरा है।'' विष्णु नागर के कविता-संग्रह 'हँसने की तरह रोना' की कविताओं से गुजरते हुए उनके कवि की मार्मिक आलोचना-दृष्टि की झलक बार-बार मिलती है। नागर व्यंग्य-लेखन में भी बराबर नई जमीन तोड़ने की कोशिश करते दिखते हैं। इस संग्रह की कविताओं में भी व्यंग्य की उनकी धार बारंबार विचलित करती सामने आती है। उनके व्यंग्य की सबसे बड़ी ख़ूबी उसकी सादगी है, वह मुँहफट व्यंग्य नहीं है, बल्कि वे बड़े सलीके से समाज की दुष्टतापूर्ण, अवसरवादी शक्तियों के प्रतिनिधियों के कान पकड़ उसका छिपा चेहरा सामने लाते हैं। इस तरह की 'नवजीवन देने वाली सादगी' की ताकत से नागर पहली बार हिंदी के पाठकों का परिचय कराते हैं—

बुश बेचारा तो युद्ध होने पर भी नहीं चाहता था
कि इराक का एक नागरिक भी मरे
लेकिन पहले प्रिसीज़न बमों ने घपला किया और वे
नागरिक इलाकों पर गिर पड़े...
(या)
अमेरिका चाहता है कि इस धरती के समस्तजन उसे प्यार करें
उससे प्यार न करने की सज़ा है मौत, जो कि संयोग से उससे प्यार करने का भी पुरस्कार है।

यूँ यह सादगी नागर के यहाँ शुरू से है। हम उनकी 'बाजा' जैसी कविता याद कर सकते हैं, जिसमें बाजा बजाने वालों की पीड़ा को स्वर देते वे कहते हैं कि मैं बाजा हूँ। मैं क्या करूँ कि मुझे बजाने वालों के दिल रोते हैं। हाँ, नई चीज, जो इधर की उनकी कविताओं को उससे आगे ले जाती है, वह है व्यंग्य की ताकत। यह उनकी क्षमता ही है कि व्यंग्य की इस ताकत के बावजूद वे पुरानी सादगी को

बनाए रखते हैं। हिंदी-कविता में यह बात नागार्जुन के यहाँ मिलती है और ज्यादा सादगी के साथ केदारनाथ अग्रवाल के यहाँ।

विडंबना-बोध को इस यथार्थवादी ढंग से अभिव्यक्त करना कि वह पारंपरिक रूढ़ियों की मिट्टी पलीद कर दे, नागर की कविताओं की एक और खासियत है। ऐसे दौर में जब कुछ युवा कवि ईश्वर से जुड़ी नई रूढ़ियाँ पैदा करने में भिड़े हुए हैं, नागर ईश्वर के मिथ को यथार्थ की नई रोशनी में देखते हैं और पहली बार उसकी क्रूरता को रेखांकित करते हैं—

मेरे जाल में एक मछली फँसी
वह जिस कदर तड़प रही थी
उससे लगता नहीं था कि वह
किसी ईश्वर को याद कर रही थी
वह ठीक कर रही थी
वह ठीक रही थी
क्योंकि उस वक्त उसका ईश्वर मैं था
और मैं उसे पका कर खाने की जल्दी में था।

नागर ने कई कविताएँ कबीर की उलटबाँसियों-सी लिखी हैं। अंतर यही है कि वहाँ जूझने पर निहितार्थ साफ और बड़े मारक दिखते हैं। कई बार इस मारक प्रभाव को विवाद से बचाने के लिए वे निशाने पर खुद को ही डाल देते हैं। 'पद पर बैठा शेर', 'संदेह दूर करना' आदि कविताओं को आप इस संदर्भ में देख सकते हैं।

रघुवीर सहाय ने लिखा था कि जब मैं कविता पढ़कर उठूँ तो सन्नाटा छा जाए। फिर विष्णु खरे ने इस सन्नाटे की शैली को नई ऊँचाई दी। पर आगे हिंदी-कविता में इस ऊँचाई और सन्नाटे की शैली के इतने और ऐसे-ऐसे विशेषज्ञ पैदा हुए कि सवाल उठने लगा कि अब इस 'ऊँचाई' के बाद कविता का अंत हो जाना चाहिए। लोग भूल गए कि हमारे यहाँ कबीर-नागार्जुन-केदार-त्रिलोचन वाली ऐसी काव्य-परंपरा भी है, जो ऊँचाई से ज्यादा विस्तार को, जीवन को तरजीह देती है। रघुवीर सहाय को लगातार याद करने के बावजूद नागर अपनी कविता में ऊँचाई की जगह विस्तार की समृद्ध परंपरा से खुद को जोड़ते हैं। वहाँ फक्कड़पन और बेलौसपन है। वह चोट करती है, तो गुदगुदाती भी है और साथ लेकर चलती है। ऐसे समय में जब युवा कवि स्त्रियों और बच्चों पर प्रबंध-काव्य लिखने में अपनी सारी कुव्वत लगा रहे हैं, नागर की कविता फिर से जीवन को उसकी संपूर्णता में देखने की माँग को बल प्रदान करती है। अपनी तरह से ज्ञानेंद्रपति और एक हद तक अरुण कमल भी यह काम कर रहे हैं।

•

समय के अदृश्य दैत्यों के बरक्स

'कवि घंघोल डालता है संस्कृतियों के जल को, यह आइना वह गड्ड-मड्ड कर देता है...' कुछ ऐसा ही लिखा था, शायद शमशेर ने। राजेश जोशी के पाँचवें कविता-संग्रह 'चाँद की वर्तनी' से गुजरते हुए ऐसा ही लगता है कि वे पहले से चली आ रही सुचिंतित व्यवस्थाओं को इधर-उधर कर देते हैं, उसे झकझोर देते हैं ताकि आगत की नई तस्वीर उभर सके। इन कविताओं को पढ़ते अरुण कमल की इस टिप्पणी पर जरा एतबार नहीं होता कि राजेश जोशी की कविताएँ (भविष्य की धूल खाने को तैयार किए गए) दस्तावेज हैं, और इस पर समकालीन भारत का दृश्य-लेख, बना सकने की बातें तो फिजूल लगती हैं। इससे पहले नामवर सिंह पर वे लिख चुके हैं कि उनकी किताब के आधार पर 'गाइड' या मैनुअल तैयार किया जा सकता है। ये वो कविताएँ हैं, जो 'आसमान के सफे पर' लिखे चाँद की तरह 'प्रतिपदा से पूर्णिमा तक/हर दिन अपनी वर्तनी बदल लेती हैं,' ये जीवंत कविताएँ हैं 'दुर्भिक्ष में भी छप्पन भोग' की कल्पना करती किसी अघाए कवि की रसोद्रेक कराती कविताएँ नहीं। दस्तावेजों और आलेखों की सुचिंतिता के मुकाबिल ये कविताएँ 'हड़बड़ी और सरलता' को तरजीह देती हैं। ये वो कविताएँ हैं 'जो अचानक थोड़ी हड़बड़ी में कवि की आत्मा से बाहर' चली आई हैं, जिन्हें 'तराशने का कभी वक्त ही न मिला हो उसे'! यहाँ साफ है कि ऐसा वे वक्त की कमी के चलते करते हैं इरादतन नहीं। क्योंकि और भी गम हैं कवि के पास। राजेश जोशी के लिए कविता लिखना किसी 'साहित्य भोज' में शामिल होने का उपक्रम नहीं किसी 'राज-कवि' का। ना उन्हें अपने गुण गायक चारणों की ज़रूरत है (मैं तो चारण हूँ प्रत्येक राज-कवि का गुण गाने को तत्पर—नामवर सिंह का यह वक्तव्य अरुण कमल को बड़ा मार्मिक लगा था) तभी तो वे लिख पाते हैं—

झकाझक कलफ लगे क्रीजबन्द कपड़ों में किसी को देखकर
कोई सुबककर रोता है मेरे भीतर
हाय! कुछ ही दिनों में निकल आएगी इसकी तोंद

कुछ ही दिनों में हो जाएगा वह गंजा
...बढ़ जाएगा इसका रक्तचाप...।

कभी रघुवीर सहाय ने हिंदी को 'दुहाजू की बीवी' जैसी संज्ञा दी थी, आज राजेश जोशी लिखते हैं— 'महत्त्वाकांक्षाओं के मायालोक में कहीं नहीं थी हमारी भाषा' या 'मुझे अपनी आवाज़ पुराने दासों की तरह लगी/मुझे एकाएक लगा कि यह अधर्मों की भाषा है...।' यहाँ देखना होगा कि दरअसल आज भी दो तरह की हिंदी है— एक, जिसकी बिन्दी पेरिस से लंदन तक चमकती है और एक दूसरी, आमजन की हिंदी, जिसकी बाबत सहाय से जोशी तक लिखते हैं। आखिर खुद को 'बरगद जैसी भाषा' का कवि बता 'दहाड़ने' वाले नवतुरिया कवियों (संदर्भ— आलोचना में 2006 में छपी रवीन्द्र स्वप्निल प्रजापति की कविता) को अपना पक्ष चुनना होगा कि वे सत्ता प्रतिष्ठान की हिंदी को चुनते हैं या आमजन की हिंदी को।

कवि का एक काम अर्थ खोते-छीजते पारंपरिक शब्दों को संदर्भों की नयी रोशनी में देखना भी है। अपनी कई कविताओं में जोशी यह काम सलीके से करते हैं, 'चुटकुलों के पक्ष में एक दलील', 'विनम्रता' आदि कविताओं को इस संदर्भ में देखा जा सकता है। इसमें 'विनम्रता' कविता तो अद्भुत बन गई है। इस कविता में कवि विनम्रता की ताकत और उसकी राजनीति दोनों को नया अर्थ देता है—

दूब जिसे विनम्रता का लगभग पर्याय मान लिया गया है
तमाम रुकावटों को पार करती
फैल जाती है सारी धरती पर
...विनम्रता ताकतवर की मुद्रा है
वह जीत का पाँसा फेंकना जानती है...।

यहाँ पाश की 'घास' कविता को याद किया जा सकता है— 'मैं घास हूँ/.. .मैं तुम्हारे हर किए-धरे पर उग आऊँगी।' चुटकुले के पक्ष में चूँकि दलील दी है कवि ने, इसलिए वह दलील-सी कमजोर भी है।

वर्तमान निजाम में एक कवि की सीमाएँ और कविता के चोले में छिपी उसकी नाकाबिलियतों को भी जानते और बताते हैं जोशी। बच्चन की तरह जोशी भी छुपाकर साधु कहलाने के आकांक्षी नहीं हैं— इसीलिए वे साफ-साफ लिख पाते हैं—

इस बात का पुख़्ता बंदोबस्त था
कि एक कवि इस समाज में रहा आए
...और इस बात का भी कि उनकी बात का
कोई प्रभाव न बन पाए कहीं समाज में।

अपनी सीमाओं को जानना ही उन्हें तोड़ने की दिशा देता है, इसे जोशी जानते हैं। प्रकृति और प्रेम पर कई कविताएँ हैं संग्रह में। ये रोचक कविताएँ हैं, जिनमें कवि एक किस्सागो की तरह पेश आता है, भाषा में उड़ान भरता लोक की स्मृतियों—

धुनों का प्रयोग करता। 'किस्सा काली धोबन का', 'मुलाकात', 'जादूगरनी' आदि ऐसी ही कविताएँ हैं। अबोधता-विस्फार-आश्चर्य के मिले-जुले भावों की भी कई कविताएँ हैं, संग्रह में। आलोक धन्वा का कहना है कि अबोधता कई बार जीवन के बहुत से जरूरी पहलुओं को आलोकित करती है। जोशी की 'बहन' कविता इस संदर्भ में याद की जा सकती है—

मैं कभी नहीं समझ पाता था कि जब सारे लोग घर में रहते हैं
तो एक बहन ही बार-बार क्यों चली जाती है
—न जाने उसके भीतर इतना रोना कहाँ छिपा हुआ था
कि वह कभी भी रो सकती थी...।

संग्रह के आरंभ में कई कविताएँ ऐसी हैं, जिनमें बीच-बीच में कुछ चमकदार-निर्णयात्मक पंक्तियाँ हैं, जो टिप्पणी-सी जड़ी लगती हैं। हालाँकि वही कविता को कविता बनाती हैं। इस मामले में क्या कहा जा सकता है जब कवि स्वीकारता है कि वह हड़बड़ी में बाहर चली आई कविताएँ पसंद करता है, जिन्हें तराशने का वक्त उसे नहीं मिला होता है।

संग्रह में सबसे महत्त्वपूर्ण वे कविताएँ हैं जो समय के संकटों को दर्शाती हैं। 'रात किसी का घर नहीं', 'हमारे समय के बच्चे', 'खिलौना' आदि ऐसी ही कविताएँ हैं। इसमें कवि की मुठभेड़ मुकम्मल है। इनमें किसी में अपने बच्चों से पिटता पिता है तो किसी में वर्तमान समय के बच्चे हैं, जिनके जूते 'इतने आकर्षक और बेआवाज़ हैं', 'कि किसी स्वप्न के उनके नीचे कुचल जाने की भी' कोई आवाज सुनाई नहीं देती। जोशी को लगता है कि ये बच्चे किसी अदृश्य दैत्य की उँगली थामे कहीं जा रहे हैं। वहीं 'खिलौने' ऐसी कविता है, जिसमें भविष्य को बेहतर बनाने की आकांक्षाएँ अभिव्यक्ति पाती हैं। इसमें एक जिद्दी डिजायनर खिलौनों की वर्तमान दुनिया को बदलने की ज़रूरी जद्दोजहद में लगा है—

मैं एक खिलौना हूँ
...मुझे बनाने वाले कलाकार ने बाजार की नजर बचाकर
बाजार की इच्छा के बीच अपने स्वप्न को भी रख दिया है मुझमें।

राजेश जोशी की कविताएँ भी इन खिलौनों की तरह अपने समय को अदृश्य दैत्यों से बचाने की तजवीज छुपाए हैं।

•

बाजार के विरुद्ध कविता

नदी!
तू इतनी दुबली क्यों है
और मैली-कुचैली
मरी हुई इच्छाओं की तरह
मछलियाँ क्यों उतराई हैं
तुम्हारे दुर्दिन के दुर्जल में...आह! लेकिन
स्वार्थी कारखानों का तेजाबी
पेशाब झेलते बैंगनी हो गई तुम्हारी शुभ्र त्वचा
हिमालय के होते भी
तुम्हारे सिरहाने
हथेली-भर की एक साबुन की टिकिया से
हार गईं तुम युद्ध
(नदी और साबुन)

ज्ञानेन्द्रपति का 'गंगातट' मात्र काशी की गंगा का तट नहीं है। वह आम भारतीय मानस की भागीरथी भी है, जो अपनी हिमालय जैसी विशाल प्राकृतिक संपदा के बावजूद विश्वबाजार और छद्‌म आधुनिक सभ्यता के थपेड़ों से धूल-धूसरित हो रही है। उनकी गंगा आमजन की वह शेष छवि है, जो दुबली और मैली-कुचैली होती जा रही है। जिसकी अपनी आकांक्षाएँ दुर्दिन के दुर्जल में मृत उतरा रही हैं।

इस कविता में कवि का क्रंदन अन्यथा नहीं है। बाजारवाद के हमले को लेकर व्यथित वह अकेला नहीं है। आज भारत में पूरी हिंदी पट्टी बाजार के नए हमलों से अपने ढंग से निपट रही है। चर्चित पत्रकार प्रभाष जोशी ने बाजार को लेकर एक मार्के की बात कही, कि 'बाजार आज सेवक की भूमिका छोड़ मालिक की भूमिका में आने की तैयारी कर रहा है।' बाजार के इस हमले के विरुद्ध आज हिंदी-कविता की एक पूरी पीढ़ी खड़ी हो रही है, जिसमें ज्ञानेन्द्रपति के अलावे ऋतुराज, मिथिलेश श्रीवास्तव, मदन कश्यप, निलय उपाध्याय जैसे कवियों की एक पूरी कतार शामिल

है। मैथिली कविता में जीवकांत जैसे कवि के यहाँ भी यह तीखा स्वर दिखता है। परंपरा की सकारात्मक चीजों के प्रति लगाव और बाजार के तीखे हमलों से निजात के लिए प्रकृति की आशाभरी गोद का आलंबन 'गंगातट' का जैसे मूल स्वर है। दुनिया-भर में प्रकृति का दोहन कर अब बाजार भारतीय प्रकृति पर हमला आरंभ कर चुका है। इसे देख-समझकर कवि विकल हो जाता है। वह देखता है कि हरियाली, जल सब पर बाजार का मायावी हमला आरंभ हो चुका है। ऐसे में वह अपनी निगाह आकाश में उगे अपने किसी प्यारे सितारे की ओर उठाता है, पर वह देखता है कि बाजार इस सितारे को भी जूते की नोक पर उछालता बेच रहा है। इसके बावजूद वह उस सितारे को एक सहारे की तरह पाता है। 'गंगातट शुरू रात की बेला' कविता में कवि लिखता है—

बहरहाल वह तुम्हारा तारा है
उसे उन्होंने छोड़ दिया है तुम्हारे लिए
वे जिन्होंने तुम्हारे लिए जगमगाता बाजार सजा रखा है...
वे तुम्हारी इच्छाओं और रुचियों के नियंता
तुम्हारे भीतर जरूरतें ही जरूरतें जगाते
उस तारे को उन्होंने
फालतू जान छोड़ दिया है
फालतू और गैर जरूरी
वह ब्लैक होल में बदल जाए, उनकी बला से।

बाजार इस ब्रह्मांड में बहुत-सी चीजों की उपेक्षा कर उसे नष्ट कर देना चाहता है, उसे आपके प्रिय सितारों की चिंता नहीं, चाहे वह ब्लैक होल में बदल जाए, अपनी बला से। वह अपना दोहन चालू रखेगा, ऊपर-ऊपर वह ओजोन परत के नष्ट होने पर बहस भी बनाए रखेगा, संतुलन के नाम पर आपको नियंत्रित करने के लिए।

ज्ञानेन्द्रपति का गंगातट आम किसानी जीवन जीते एक हद तक धर्मभीरु भारतीयों का भी गंगातट है। पहली ही कविता 'गंगास्नान' में कवि अपने बहू-बेटे के साथ नहाती एक बूढ़ी मैया का चित्र खींचता कहता है कि गंगा में नहाती वह अपनी देह ही नहीं, प्राणों तक को प्रक्षालित कर रही है। पवित्र कर रही है, इस दृश्य को व्यंग्य से देखने वाले शहरातू भारतीयों को कवि संबोधित करता है :

तुम क्या जानो उस बूढ़ी मैया की मानस स्थिति को
'तुम' जिनके लिए नहीं बची है कोई पवित्र नदी...
तुम्हारी हृत्पिंडों की तो गंगोत्री ही सूख गई है।

प्रकारांतर से कवि इन शहरातू सभ्य जन को कोसता आरोप लगाता है कि तुमने ही सारी पवित्र नदियों को विषाक्त कर डाला है। तुम तो अपने अभाव को भी जान नहीं पाते हो। गंगातट में ज्ञानेन्द्रपति धर्मभीरु भारतीय किसान 'गंवई-गवार'

जमात को संबोधित जरूर करते हैं, पर वे यहाँ साफ कर रहे होते हैं कि यह धर्मभीरु जमात भोली-भाली है और वह आस्था से ज्यादा अपनी जिज्ञासाओं को लेकर इन तीर्थस्थलों को भागती रहती है। इस तरह से वह अपने परिवेश से परिचित होती है। तीर्थ तो एक बहाना है। कवि कहता है कि वे तो भोले-गँवार भारतीय हैं, जिनके दम से 'जटाजीवी साधुओं और मायाजीवी शहरों के/घिसे-पिटे चमत्कारों में भी... ' 'चमक आ जाती है।' '...जो चमत्कृत होने के लिए/आँखें चौड़ाए बैठे...' रहते हैं। इन लोगों को देख कवि के 'संशयाकुल मन में' धीरज भरता है।

'गंगातट' के करीब बीस साल पहले ज्ञानेन्द्रपति का संग्रह आया था, 'शब्द लिखने के लिए ही यह कागज बना है।' उस संग्रह ने ही ज्ञानेन्द्रपति को हिन्दी कविता में अपनी अलग पहचान दे दी थी। उस संग्रह ने ज्ञानेन्द्रपति को जो जगह दिलाई थी, उस तक उनके समकालीन कवि अरुण कमल और आलोक धन्वा भी काफी जद्दोजहद के बाद पहुँच पाए।

नए संग्रह में ज्ञानेन्द्रपति को अपनी पिछली छवि को तोड़ना था और यह काम 'गंगातट' बखूबी करता है। यहाँ अपनों के साथ उसका प्रवाह भी बदला है। पर पाठकों के लिहाज से यह संग्रह कुछ कठिन हुआ है। भाषा के स्तर पर। यह कठिनाई मुक्तिबोध के यहाँ भी रही है, पर उनकी कहानियाँ, उपन्यास, उनके आलेख और उनकी आलोचना मिला-जुलाकर उनकी कठिनाई को सुगम बनाते हैं, पर ज्ञानेन्द्रपति की कविताओं के अलावे उनके गद्य का नमूना तो अभी सामने आया नहीं है। मुक्तिबोध जैसी जटिलता भी ज्ञानेन्द्रपति के यहाँ है, पर मुक्तिबोध के यहाँ जो एक ताकतवर आवेग से भरी अंतरलय है उसका, इनके यहाँ अभाव है। उसकी जगह यहाँ एक शीतल किल्लोल है शब्दों का। यहाँ रचाव से ज्यादा गढ़ाव प्रभावी दिखता है।

कविताओं में कवि मुक्तिबोध को याद करता अपने मन को मुक्तिबोधीय बताता भी है : *'मन है मुक्तिबोधीय/ब्रह्मराक्षस का सिरफिरा मुँह/साथ-साथ मंत्रोच्चार, गालियों की बौछार।*

'गंगातट' की कविताओं के अंत में पूर्णविराम नहीं है कहीं भी। जैसे हर कविता पाठक के लिए छोड़ दी गई हो कि वह उसका अंत अपने ढंग से कर सकता है या उसे आगे बढ़ा सकता है। मुक्तिबोध ने लिखा है—'...कहीं भी खत्म कविता नहीं होती।' ज्ञानेन्द्रपति भी अपनी कविता को निर्बन्ध रहने देना चाहते हैं।

•

कविता से निकला जीवन

ऐसे समय में जब भोजपुर के ही चर्चित युवा कवि निलय उपाध्याय मुंबई जाकर कविता को बिसार रहे हैं, वीरेंद्र की नवतुरिया कविता ने वहाँ की कठिन परिस्थितियों में नए पचके फेंके हैं। यह पहली बार है कि मुंबई की खोलियों का जीवन अपनी त्रासद स्थितियों के साथ हिंदी कविता में आया है। कविता से निकाल दिया गया जीवन ही जैसे लौटा है वीरेंद्र के यहाँ—

एक आदमी को मालूम नहीं आज क्या खाने की इच्छा है
क्या बनना चाहिए या क्या बनेगा घर में
सब्जी कि मछली कि कुछ और
ठीक आज की तरह कल का भी उसे पता नहीं...।
(मुहल्ले में कोली लोग)।

कवि-आलोचक विजय कुमार का यह कथन सही है कि कुमार वीरेंद्र की कविताओं में— '...उस मनुष्य का लगातार संघर्ष है, जो आदमी से एक दर्जा नीचे का जीवन जीने के लिए विवश है।'

वैसे तो संग्रह में भोजपुर के खेत-खलिहानों और मौसम से संबंधित भी ढेरों कविताएँ हैं पर कवि की पहचान उन कविताओं से बनती है जो उसने मुंबई में एक दर्जा नीचे की जिंदगी जीते हुए दर्ज की है। मुक्तिबोध अभिव्यक्ति के जिस खतरे को उठाने की बात करते हैं, वह इन कविताओं में उठाया गया है। इनसे कविता के गढ़ और मठ चाहे न टूटें, पर कविता की दुनिया से गायब होती जाती 'आदमी होने की तमीज' ज़रूर पैदा होगी—

मैं यहाँ
इतनी रात
लौटता रहूँगा
और कुत्तों के अलावा
पता किसी को नहीं होगा
...और गली में

किसी दिन
निकली अगर मेरी भी चीख
तब भी वे ही भौंकेंगे
जिनका भौंकना
अंततः
रुदन-स्वर में
बदल जाएगा। (कुत्ते)

अंग्रेज चले गए पर अंग्रेजों की गुलामी आज भी कई-कई रूपों में जारी है। संग्रह की एक कविता 'इंडिया टुडे' आज भी चली आ रही इस गुलामी का एक चेहरा सामने रखती है। इसमें मुंबई-भ्रमण पर निकले चार गोरों के क्रूर कारनामों को दर्ज किया गया है। घूमने के दौरान गोरे टैक्सी ड्राइवर की कमीज को जलती सिगरेट से मजाक-मजाक में बार-बार दाग कर छेदम-छेद कर डालते हैं। बाद में ड्राइवर पुलिस थाने में जाने की धमकी देता है, पर जाने की हिम्मत नहीं कर पाता। यह त्रासदी ही है कि आज भी सबकुछ अँग्रेजों का बनाया चला आ रहा है। हम उसमें खास रद्दोबदल नहीं कर पाए हैं, तभी तो—

गोरे मजा लेते
भ्रमण पर थे
जैसे बिफोर नाइंटीन फोर्टी सेवन के इंडिया में घूम रहे हों।

कुमार वीरेंद्र की मुंबई की त्रासद जीवन स्थितियों को उद्घाटित करती कविताएँ तो अपना एक जुदा चेहरा रखती ही हैं, भोजपुर के खेत-खलिहानों के अनुभवों से उपजी उनकी कविताएँ भी अपना अलग टोन रखती हैं। कुआर मास आदि ऐसी कविताएँ हैं जिनमें कवि गाँव-जवार की स्थितियों को याद ही नहीं करता, कई बार उनका बारीक विश्लेषण भी करता है—

कुएँ तो रहे ही नहीं
धरती के घाव थे जैसे
भरना था भरते चले गए...।

वीरेंद्र को पढ़ते हुए केदारनाथ सिंह, विष्णु खरे और ज्ञानेन्द्रपति की काव्य शैलियाँ याद आती हैं। हालाँकि ये शैलियाँ अभी कवि की ताकत नहीं बन पा रही हैं। हाँ, इनसे यह बोध जरूर होता है कि कवि कविता की विभिन्न सरणियों से वाकिफ है। विष्णु खरे अपनी कविता में आत्मकथा, संस्मरण सबको समेटे चलने में एक हद तक समर्थ दिखते हैं। वीरेंद्र भी कई जगह ऐसा करते दिखते हैं। पर इन विधाओं को कविता में समेटने के लिए जो कलात्मक प्रविधियाँ अपेक्षित हैं वो उम्र और अनुभव से आती हैं।

इधर की कविता में चीजों को पुनर्परिभाषित करने का चलन बढ़ा है। यतींद्र

मिश्र की कविता 'लंगड़ा आम' हो या रमण कुमार सिंह की कविता 'ताला' या फिर कुमार वीरेंद्र की 'डोंड', 'ताला' इन सबमें कवि चीजों को अपनी निगाह से देखता है और अपने-अपने निष्कर्षों पर पहुँचता है। ऐसी कविताएँ कवि की रचनात्मकता को निखारने का काम करती हैं।

'लालटेन जलाना' विष्णु खरे की चर्चित कविता है। खरे अपनी लालटेन इस धैर्य से जलाते हैं कि उसकी चमक से हिंदी कविता अलोकित होने लगती है, 'मेरी यह लालटेन' शीर्षक से एक कविता वीरेंद्र के इस संग्रह में भी है। वीरेंद्र की यह लालटेन चाहे कविता में वो चमक पैदा न कर पाती हो पर उनके धैर्य और साहस को बयाँ जरूर करती है, अपनी चमक पर चौंधियाने की बजाय—

मुझे लालटेन की रोशनी में अँधेरे के बहुत बड़े-बड़े पाँवों के
न गिने जा सकें उतने चिह्न
साफ-साफ दिखाई पड़ते हैं
उसका मुँह ढूँढ़ता हूँ
तो घर के छप्पर पर होने का
एहसास देता है
मैं जानता हूँ
अभी मुझे समय लगेगा
उसकी आँखों में
लालटेन के साथ प्रवेश करने में...।

'बाधा' संग्रह की एक त्रासद कविता है। इसे पढ़कर मायकोवस्की की आत्महत्या के पूर्व लिखी कविता याद आती है। वीरेंद्र के यहाँ प्रताड़नाएँ जुदा हैं पर मुक्ति के इस दरवाजे पर उनकी दस्तक बहुत भारी और वैठती हुई है—

छत पर बिल्लियाँ झगड़ रही हैं
गली में रो रहे हैं कुत्ते
एक आदमी शायद आज की रात भी
आत्महत्या का निर्णय नहीं ले पाएगा।

इस कविता को पढ़कर गोरख पांडे की पंक्तियाँ याद आने लगती हैं—

आँखें हैं
या दर्द का
उमड़ता हुआ समंदर
जितनी जल्दी हो
इस दुनिया को बदल देना चाहिए।

•

जिस देश का हवा-पानी 'राड़' है

युवा कवि पंकज कुमार चौधरी की कविता पुस्तिका 'उस देश की कथा' में एक कविता है 'सचमुच', जिसमें कवि लिखता है— *सचमुच में आप/ दुनिया को बदल देना चाहते हैं /...तो हटाइए/ बोरिंग के उस मुहाने पर से/ अपना जकड़ा हुआ हाथ।*

'उस देश की कथा' की कविताएँ सचमुच के बदलाव के इच्छुक एक युवा-मानस की काव्याभिव्यक्तियाँ हैं, और इस बदलाव के लिए वह कोई बड़ा तामझाम नहीं करता। बल्कि छोटी-छोटी बातों के माध्यम से बदलाव की अपनी गहरी इच्छा को बार-बार अभिव्यक्त करता है।

इस छोटी-सी कविता 'सचमुच' में कवि बहुत आसानी से यह कह जाता है कि बदलाव के लिए किसी लंबी जद्दोजहद बहस की जरूरत नहीं है, बल्कि आप अपनी अविवेकपूर्ण जिद से जरा-सा हटें, तो रूढ़ियाँ टूटें, जकड़बंदी ढीली हो और जल की 'कल-कल करती धारा' मुक्त हो।

इसी तरह की दूसरी प्रभावी कविता है 'छोटा काम', जिसमें कवि लिखता है—

काम तो बहुत बड़ा था
लेकिन विडंबना यह थी उस काम के साथ कि
उसको छोटे-छोटे आदमी करते आ रहे थे

यह छोटी-सी कविता बड़ी आसानी से श्रम, आधुनिकता और बाजार के रिश्तों की पोल खोलती है...कि जैसे ही किसी छोटे काम में बाजार प्रवेश करता है, वह काम बड़ा हो जाता है। पर दुष्परिणाम यह होता है कि छोटे काम के बड़ा होते ही उससे छोटी जमात की छुट्टी होने लगती है। जैसे एक ओर आज तक 'मैला ढोने की प्रथा' पर लेख और कविताएँ लिखी जा रही हैं, वहीं दूसरी ओर पाखाना घर बनाने की कला पर शोध करनेवालों को कलाश्री का पुरस्कार मिल जाता है और वे अपार संपदा के मालिक बन जाते हैं। उसी तरह हलवाहों को कुपोषण से बचानेवाली सत्तू जैसी चीजों पर शहरातू कंपनियाँ कब्जा कर बैठीं और उसे शहरी बाजार में बेचने लगीं। नतीजा, उनका वह सहज आहार भी छिनता गया। अब पॉपकॉर्न का वावेला मचा कर मकई जैसे मोटे अनाज को भी दुर्लभ करने की साजिश रची जा

रही है। पहले सत्तूखोर एक गाली होती थी। आज अँग्रेजी डॉक्टर हर परची के साथ सत्तू खाने की सलाह जोड़ देते हैं। नतीजा, सत्तू अमृत होता जा रहा है। अब तो पेटेंट का नया नियम भी आ गया है, जो सभी छोटी चीजों को अचानक बड़ा बना दे रहा है और वहाँ से छोटे-छोटे लोगों की छुट्टी कर दे रहा है। अब माँड़-भात को भी पेटेंट करने की चर्चा है। एक कविता 'वाह-वाह रे हमारा भारत महान', जिसमें कवि व्यंग्य करता कहता है कि इस देश के गरीब का चेहरा सोमालिया की भुखमरी से पीड़ित लोगों जैसा है, पर उनकी अर्जित संपत्ति महान देश भारत की है।

दरअसल पंकज की कविताएँ समाज के दलित-पीड़ित वर्ग की पीड़ाओं की अभिव्यक्तियाँ हैं और कुछ कविताओं में उच्चवर्गीय जकड़बंदी को तोड़ने का जिजीविषापूर्ण काव्य-विवरण है। 'मुझे मालूम है' कविता में पंकज लिखते हैं— *मुझे मालूम है/ कि वे चीजें मुझे नहीं ही मिलेंगी/ मगर मुझे ये भी मालूम है कि वे चीजें जलेंगी भी।*

यहाँ कवि के आक्रोश को देख इकबाल याद आते हैं : जिस खेत से दहकाँ को मयस्सर न हो रोटी, उस खेत के हर गोशा-ए-गंदुम को जला दो!

कविताओं में कवि का अति-आक्रोश कविता को सपाट बना देता है। वहाँ पर कविता मात्र एक निजी राय की अभिव्यक्ति और एक दृश्य के अंकन तक सीमित हो जाती है। जैसे कवि हवा में घूँसा मार रहा हो।

संग्रह की लंबी और महत्त्वपूर्ण कविता है, 'उस देश की कथा'। इस कविता में कवि भारतीय आभिजात्य सांस्कृतिक दृष्टि को उसी के हथियारों से कड़ी चुनौती देता है। वह लिखता है—

'राड़' यानी उस देश का राड़...
जिसकी साहित्य-संस्कृति और परंपरा भी राड़ है।

इस कविता में कवि बड़ी आसानी से समझा पाता है कि बड़ी दलित जमात के होते कोई बड़ी ऊँची जमात उससे अलग स्वतंत्र रूप से श्रेष्ठ कैसे हो सकती है। पास्तरनाक की कविता-पंक्तियाँ हैं— *लेकिन मुझसे कोई कहे, पाप के क्या अर्थ हैं...।*

पास्तरनाक की, इस समाज द्वारा दंडित होती स्त्रीपात्र की जो पीड़ा है, पंकज की कविता 'उस देश की कथा' के दलित पात्र की भी वही पीड़ा है। अंतर यही है कि पास्तरनाक की पात्र पूछती है कि इसी समाज में रहकर अस्तित्व में आने पर वह त्याज्य कैसे हो जाती है। जबकि पंकज पूछने की जगह साफ कहते हैं कि हम अगर 'राड़' (दलित) हैं, तो आपका देश महान नहीं हो सकता है। हमारे छूने से अगर छाया पतित हो जाती है, तो इस महान देश की हवा, अग्नि सब पतित हुए।

•

जीवनानुभवों को बल देते विचार

उदासी पर चढ़ा लेती है
अक्ल की चादर
गढ़ा लेती हैं गहने
तुम्हारे दिये मुखौटे
लगा लेती है बेहिचक
क्या तुम पहचान पाते हो
एक स्त्री को
जब वह निकलती है
तुम्हारे सपनों का संस्कार पहने।
('थी...हूँ..रहूँगी'... की कविताओं से गुजरते हुए)

'थी...हूँ...रहूँगी'...वर्तिका नन्दा की कविताओं का पहला संग्रह है। इस संग्रह की कविताओं में एक स्वतंत्रचेता स्त्री का विविधता से भरा संसार उभरता है, जिसमें वह अपनी पीड़ा, कचोट, आशा और जीवट के नये रूपों के साथ सामने आती है। अनामिका के बाद वर्तिका ही हैं जिनके यहाँ विषय का ऐसा विस्तार मिलता है। अनामिका की तरह उनके विचार उनके जीवनानुभवों को बल देते कविता में आते हैं। वे साफ-साफ कहती हैं– ये कविताएँ नहीं आत्मकथा है इसमें मेरी ही आत्मा है...।

हाँ उम्मीद का चेहरा यहाँ कुछ ज्यादा साफ और संभावनाशील है– ...उम्मीदों की चिड़िया जिन्दा है अगर तो जहाज के पंछी को खूँटे में कौन टाँग सकता है भला। उम्मीदों की यह चिड़िया इन कविताओं में बारहा सर उठाती दिखती है, स्त्री-जीवन की टूटन पर आशा का स्वर हमेशा भारी पड़ता है...

...कई बार टूटने के बाद जब जुड़ता है कोई तो कोई अनूठा अध्याय लिख जाता है।

टूटन और प्रतिरोध ये वर्तिका की कविताओं के मुख्य स्वर हैं। वर्तिका पाती हैं कि पौरुष की कायराना मार जब स्त्री पर पड़ती है तो दूर तक कोई साथ नहीं देता। आरंभ में माता-पिता साथ देते हैं कभी बहनें साथ देती हैं पर राखी की कसमें

खाने वाले भाई साथ नहीं देते। तंज करती वर्तिका कहती हैं– राखी की कसम/महिला अपराध शाखा तक साथ देने की बात कहाँ कहती है ...। अकेला पड़कर भी पीड़ित स्त्रियाँ आती हैं थाने, कि– थके मन की आस का पंछी तो बैठ सकता है न किसी भी डाल पर। पीड़ा में भी वर्तिका का कवि कुपित नहीं होता, उसके स्वर में आत्मीयता बनी रहती है, हदों से गुजरकर दर्द आखिरकार दवा बन जाता है, ऐसे में भी जब आँसू और पीड़ा की नदी उसे डुबो देने को होती है, हिम्मत नहीं हारती वह, क्योंकि मारे जाने की सदियों की धमकियों के बीच/मन ठहरा था आज।

मार तमाम प्रतिबंधों में भी अपना जीवट बनाए रखती है स्त्री। प्रार्थना के स्वर के भीतर वह अपनी जिजीविषा बचा लेती है–

लेकिन नेलपालिश चिपकाने का निजी हक मुझसे मत छीनना
नाखूनों पर चिपके ये रंग मेरे आँसुओं को
इन्द्रधनुषी बना देते हैं ...

तुम नहीं समझोगे ये नाखून मुझे चट्टानी होना सिखाते हैं। इनके अंदर की गुलाबी त्वचा मन की रूई को जैसे समेटे रखती है।

स्त्री की मनोव्यथा को प्रकट करने वाली ऐसी कविताएँ कई हैं इस संकलन में, जिसमें स्त्री की निजता को बचाने की युक्ति वे रचती हैं। यह जानते हुए कि ओढ़नी का भ्रम टूटने में देरी नहीं लगती वे उसकी जरूरत समझती हैं कि वह केवल बचपन और कैशोर्य के बीच का पुल ही नहीं है उसके इशारों और आहों को छिपाने का जरिया भी है। 'नेलपालिश' और 'आह ओढ़नी' जैसी कविताओं में स्त्री की निजता की अभिव्यक्ति को देखा जा सकता है। मंगलसूत्र कविता में वे स्त्री मन की कचोट को अभिव्यक्त करती, तंज कसती कहती हैं कि एक ओर जहाँ पत्नी को पति के बॉस और उसके कुत्ते तक का नाम याद रहता है पति को कुछ भी याद रखने की मजबूरी नहीं होती, आखिर परमेश्वर की याददाश्त सही हो यह जरूरी तो नहीं। शकरपारे का जिक्र निराला की कविता में है। पर क्या आप नमकपारे की बाबत कुछ जानते हैं, इस बारे में स्त्रियाँ ही बता सकती हैं पुरुषों की तो याददाश्त यूँ ही कमजोर होती है। यह आँसुओं को लेकर एक तीखी कविता है– देखो तो अभी जो बूँदें गिरीं... उन से फिर बिखर तो नहीं गई कहीं मेरी ही कब्र। मंगलसूत्र, सिंदूर आदि स्त्री को गुलाम बनाने के जो परंपरागत रूप हैं सब पर कड़ी चोट करती वर्तिका की कविताएँ बराबरी की माँग करती हैं। पति की कदमबोशी करती औरतें अपनी सिंदूर की रेखा और और लंबी खीचती रहें और उनके व्यक्तित्व पर बारहा भारी पड़े यह बारीक लाल रेखा यह उन्हें मंजूर नहीं। पारंपरिक प्रेम कविताएँ खूब लिखी जा रहीं हिंदी में, शृंगार-रस बढ़ता जा रहा है पर प्रेम का जज्बा गायब हो रहा है। वर्तिका के यहाँ वह जज्बा मौजूद है अभी– प्रेम में आँखें खुली हों या मुँदी जो प्रेम करता है उसके लिए कुछ सपना नहीं। या 'कुछ सपनों का भी कभी अन्त नहीं होता आन्तरिक

सुख के खिले फूलदान में मुरझाती नहीं वहाँ कोई किरण।' अंदर-बाहर, निजी-पराया आदि का द्वंद्व और जीवन की विडंबनाएँ भी आकार पाती हैं इन कविताओं में। अंतस और अंतरमन के कई आत्मीय चित्र हैं यहाँ 'दिल के अंदर चलने वाली यात्रा से बड़ी दूसरी कोई यात्रा नहीं।' या 'अन्दर इतनी मछलियाँ, इतनी चिड़ियाँ, इतने घोंसले बताओ तुमसे बात कब करती और क्यों...।' या 'अंदर का तूफान खुद ही थमता है।' पर कवयित्री जानती है कि एक ही अंतस चाहे जिंदगी बिताने को काफी हो पर बाहर झाँकने के लिए कम है एक पूरी जिंदगानी भी।

एकला चलो को लेकर हम रवीन्द्रनाथ टैगोर को बराबर याद करते हैं पर वर्तिका के यहाँ एकला चलो अपने मानी खो देता है, एक स्त्री के लिए शब्द वही अर्थ नहीं रखते जो पारंपरिक ढंग से एक पुरुष के लिए रखते हैं। 'कहती हैं औरतें' पुस्तक में एक जगह अनामिका लिखती हैं—भाषा के महीन लकरपेंच, टूटे-फूटे पुश्तैनी गहनों की तरह औरतों के कोष में सुरक्षित रहते हैं और वक्त पड़ने पर वे उन्हें अस्त्र भी बना लेती हैं। वर्तिका भी कई कविताओं में ऐसा कर पाती हैं। 'सफर में धूप तो होगी, चल सको तो चलो' कविता में वे लिखती हैं—

'एकला कोई नहीं चलता/ साथ चलते हैं अपने हिस्से के पत्थर/ किसी और के दिए पठार/ नमक के टीले/ जिम्मेदारी से लदे जिद्दी पहाड़/ दुखों के गट्ठर...।'

वर्तिका एक सजग पत्रकार भी हैं और पत्रकार-जीवन की विडंबनाओं को भी वे बखूबी उकेरती हैं। टीआरपी की मारा-मारी में पत्रकारिता का कैसा बंटाढार हो रहा है यह सभी जानते हैं— 'हम बेकार को खास बताकर टीआरपी बटोरते हैं।' या 'मीडिया सच पर नहीं/टीआरपी पर टिका है।' टीआरपी की यह दौड़ इस चौथे खंबे को कैसे कसाई के ठीहे में बदल डालती है इसे अच्छी तरह जानती हैं वर्तिका— 'हम पेशे के पहले चरण में ही/उतर आए हैं कसाईगिरी पर।' इस कसाईगिरी पर वे अंगुली रख सकीं क्योंकि उनका फलसफा रोटी का फलसफा है और दिल का फलसफा भी। 'जय हो' और 'आहा जिन्दगी' के फलसफे से वे साफ तौर पर इनकार करती हैं क्योंकि यह फलसफा पहले से ही समृद्ध लोगों के लिए और अँग्रेजी स्कूल के प्लास्टिकनुमा साहबजादों के लिए ही समृद्धि लाता है, आम जन के लिए नहीं।

वर्तिका के पास बाल सुलभ चेष्टाएँ करने को आतुर एक मन भी है जो अभी भी न जाने क्या-क्या ... करने को करता है। इसलिए बड़ी हो जाने के बाद भी बालपन को छोड़ने का मन ही नहीं करता। यही ताकत है उनकी, जो तमाम संकटों में भी उनमें एक खिलंदड़ापन बचाए रखता है, मनमानी करने की एक सच्ची जिद को जिंदा रखता है, यह जिद ही पहचान है कविता की जो अपनी पीर को कबीर तक ले जाना चाहती है, देखना है यह जिद आगे और क्या-क्या रचती है।

•

बहती बयार के खिलाफ

निर्मला पुतुल की कविताएँ अपने अस्तित्व की तलाश में भागती एक स्त्री की कविताएँ हैं— *मैं होती हूँ स्वयं एक घर/ जहाँ रहते हैं लोग निर्लिप्त/ गर्भ से लेकर बिस्तर तक के बीच...।*

इस स्त्री की त्रासदी यह है कि वह घर के कण-कण में बसी है पर उसके बाहर 'नेम-प्लेट' पति के नाम की है। स्त्री-पुरुष में भिन्नता है, इसे मानती हैं पुतुल और इस भिन्नता के साथ स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व को जानने की माँग करती हैं। वह पूछती हैं :

क्या तुम जानते हो
पुरुष से भिन्न
एक स्त्री का एकांत...

'क्या तुम जानते हो' कविता की ये पंक्तियाँ वरिष्ठ कवि आलोक धन्वा की बहुचर्चित कविता 'ब्रूनो की बेटियाँ' की याद दिलाती हैं। आलोक लिखते हैं—जला दी गई स्त्रियों के बारे में :

वे इतनी सुबह काम पर आती थीं
उनके आँचल भीग जाते थे ओस से
और तुरंत डूबे चाँद से...
वे किस देश के लिए आती थीं इतनी सुबह?

सवाल वही है कि स्त्री का घर है कोई या देश या दुनिया?

पुतुल की तमाम कविताएँ इस दुनिया को बदल देने की इच्छा से लिखी गई कविताएँ हैं? बदलाव की यह बेचैनी कई-कई रंग-रूपों में प्रकट होती है। 'बाह्यमुनी' कविता में वह लिखती हैं :

...जिन घरों के लिए बनाती हो झाड़ू
उन्हीं से आता है कचरा तुम्हारी बस्तियों में?

यह बहुत पुराना सवाल है कि घरों में उनको बनाने वाले क्यों नहीं रहते या सड़कें बनाने वाले खुद किन पगडंडियों पर चलते हैं? धूमिल की एक कविता बहुत

पहले इस सवाल को पहचान के स्तर तक ले जा चुकी है कि वह तीसरा आदमी कौन है, जो न रोटी बेलता है न खाता है बल्कि उससे खेलता है। वे संसद से पूछते भी हैं इस तीसरे आदमी की बाबत, पर संसद मौन है। संसद पुतुल के इन सवालों पर भी मौन रहेगी जब तक व्यवस्था-परिवर्तन के लिए एक लंबी लड़ाई का आरंभ नहीं होता।

पुतुल की कविताएँ उन्हीं मौलिक और परिवर्तन-कामी सवालों को उठा रही हैं जिन्हें हिंदी-कविता में कवियों की एक बिरादरी लंबे समय से बड़े धारदार ढंग से उठाती रही है? हाँ, पुतुल की ज़मीन नई है, जो भाषा को नया औजार दे रही है, एक नई उम्मीद जगा रही है जो कविता का मुख्य काम है। पुतुल की कविता 'एक ली जा रही जान की तरह' हमें पुकारती कविता है कि हिंदी के युवा कवि मनोभ्रंशजनक स्थितियों से उपजी अपनी कविताओं से बाहर निकलें। 'वे' और 'थे' वाली शैली का मनोबुझौवल बहुत हुआ। अब समय आ रहा है फिर चीज़ों को सीधा नाम लेकर पुकारने का। पिछली सदी के अंतिम दशक में पाश की कविता ने हिंदी-कविता को उद्वेलित किया था। उससे थोड़े अलग ढंग से पुतुल की कविताएँ भी वही काम कर रही हैं। वे बताती हैं कि आज भी कविता की तमाम संभावनाएँ जीवित हैं। हाइटेक हो चुकी हिंदी-कविता को वे फिर से बता रही हैं कि अभी भी जीवन के लिए प्रकृति के पास वैसा ही विपुल वैभव है। पुतुल की कल्पना में 'आज भी यह प्रकृति रंग भर रही है।' 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' कविता में वह खुद को वैसी जगह ब्याहने की बात करती हैं, जहाँ खुला आँगन हो और मुर्गे की बाँग पर सुबह होती हो, जहाँ वह हर शाम पहाड़ी पर डूबता सूरज देख सकें। उन जगहों को वह सख्त नापसंद करती हैं जहाँ मन से भी ज़्यादा तेज दौड़ती हैं गाड़ियाँ; जहाँ आदमी से ज्यादा ईश्वर बसते हैं। उन हाथों को भी वे नापसंद करती हैं जिन्होंने कभी कोई पेड़ नहीं लगाया या बोझ नहीं उठाया, किसी का।

इस कठिन समय में भी पुतुल को विश्वास है कि आग फैलेगी आदमी के जंगल में और खामोश समाधिस्थ पेड़ जल उठेंगे। उसे विश्वास है कि 'उसकी बस्ती के बच्चे' एक दिन 'बहती बयार के खिलाफ' 'समय की रफ्तार से भी तेज दौड़ेंगे'। हिंदी की युवा कविता के सामने एक चुनौती की तरह हैं ये कविताएँ कि वो भी बहती बयार के खिलाफ अपने कदम उठाएँ कि 'चाँद पर नाव' चलाकर और 'मिट्टी के फल' खाकर हिंदी-कविता का काम नहीं चलने वाला। कि 21वीं सदी में स्त्रियाँ झाड़ू-पोंछा के अलावा ढेर सारे काम कर रही हैं। वह किन्हीं 'अधम कोनों' तक सीमित नहीं हैं। कि 'कुछ भी खाकर पवित्र गोबर नहीं दे रही हैं गाएँ (अनिमेष)', बल्कि पॉलिथीन खाकर बेमौत मर रही हैं।

•

हिंदी-कविता का प्रतिवादी स्वर

धूमिल के बाद चेतन ऐसे पहले कवि हैं, जिनके यहाँ चेतना का प्रतिवादी स्वर सर्वाधिक मुखर है। चेतन इस मामले में विशिष्ट भी हैं कि उन्हें धूमिल की तरह अपनी बातों को बल प्रदान करने के लिए किसी की पूँछ उठाने की जरूरत नहीं पड़ी है। ऐसे समय में जब हिंदी के तमाम चर्चित कवि कविता को माथापच्चीवाले खेल में तब्दील करते जा रहे हैं, चेतन अपने समय की विसंगतियों को न केवल उसकी जटिलता में चिह्नित करते हैं, बल्कि सफलतापूर्वक उससे मोरचा लेते दिखते हैं। गुजरात नरसंहार के बाद लिखी अपनी एक कविता में चेतन लिखते हैं :

धर्माचार्यो
तुम्हारे दिन तो जा ही चुके थे बरसों पहले
लो, अब तुम्हारा धर्म भी गया
हत्या पर हत्या करके भी
अब तुम उसे लौटा नहीं सकते...

ऐसा नहीं है कि चेतन का यह रवैया मात्र धर्म के प्रति ऐसा दो-टूक हो, छद्म क्रांतिकारिता को भी वे अस्थिरता और स्थगन के रूप में देखते हैं। 'हम क्रांतिकारी नहीं थे' कविता की पंक्तियाँ देखें :

वे एक-दूसरे को लड़ने की सुविधा देते हुए लड़ रहे थे
उनके बीच एक समझौता था
जो अनंत काल से चला आ रहा था
हमने उसे तोड़ा
इस तरह युद्ध-क्षेत्र के बीच हम बचे...

हिंदी-कविता में विष्णु खरे अकेले कवि हैं, जो विवरणात्मकता को अपनी ताकत बना पाते हैं। ऐसा वे अपने दृश्यांकन (आब्ज़र्वेशन) की क्षमता से कर पाते हैं। चेतन खरे की शैली को और विकसित करते हैं और उनकी कविता ज्यादा मारक बनती जाती है। इसका कारण यही हो सकता है कि खरे के यहाँ यह शैली उनके जीवन

की प्रौढ़वय में विकसित हुई है, इस उम्र में स्वभावतः उनका जीवन-संघर्ष उस तरह बहुआयामी नहीं है, जैसा युवा होने के चलते चेतन के यहाँ है।

यह कितना मजेदार है कि जिस समय हिंदी के वरिष्ठ कवि अरुण कमल 'परचून' की दुकानों की रंगीनी की ओर लुढ़कते चले जा रहे हैं, चेतन 'हार्डवेयर की दुकान' को अपनी कविता में लाते हैं–

यह हमारी हार्डवेयर की दुकान है
यहाँ हम चकरियाँ घिरियाँ तसले फावड़े उथले
गहरे चौड़े, लोहे
प्लास्टिक रबर और अल्यूमिनियम के बेचते हैं
सुंदर चिकना और जिसे आप कहते हैं
अनन्त के मन में बस जानेवाली कौंध
ऐसा कुछ तो हमारे पास नहीं है
कि काउंटर पर हसीन लड़की भी नहीं।

ऐसे में जब कविगण अपने प्रेम की चुल्लू-भर स्मृति या यथार्थ में ही ऊब-चुभ करते फिर रहे हैं, चेतन रिक्शावाले के प्रेम पर भी विचार करते हैं :

यह प्रेम के तरीकों पर शोक का दौर था
देह का देवत्व पर रात-दिन काम चल रहा था
वात्स्यायन की एक टीका रोज बाजार में आती थी...
पर रिक्शेवाले इसमें शामिल न थे
वे रिक्शे को खड़ंजे पर वहशियाना दौड़ाते
कि जैसे लैला लकड़ी की हो
या कि उसे लकड़ी कर देना हो...

अगर लेखन को किसी हद तक हथियार बनाया जा सकता है, तो चेतन की कविताएँ इस मायने में उन हदों को पार करती हैं कि उनका हमला सुचिंतित, कूट-रणनीतिक कार्रवाई की तरह होता है। 'हिंदू देश में यौन-क्रांति' कविता को इस संदर्भ में देखा जा सकता है :

कि यौवन ने मारी लात देश की
कुबड़ पर और कहा
रुकें, अब आगे का सफर हमें दे दें
पहले स्त्री उठी
जो सुंदर चीजों के अजायबघर में सबसे बड़ी
सुंदरता थी और कहा, कि पेडू में बँधा हुआ
यह नाड़ा कहता है
कि कीमतों का टेग आप कहीं और

टाँग लें महोदय
इस अकड़ी काली गोल गाँठ को अब मैं खोल रही हूँ...
चकित थे हिंदू
बलात्कार की विधियाँ सोचते, घूरते, घात लगाए, चुपचाप देखते, सन्नद्ध
कि भीम के, द्रोण के देश में जनखापन छाया जाता है...

इस कविता के द्वारा चेतन हिंदी धर्मध्वजियों को उनकी औकात बताते हैं कि पहले वे तय करें कि इस मुल्क में हिंदू क्रांति हो रही है या 'मुक्तस्तनी क्रांति'। पर धर्मध्वनियों की धज्जियाँ उड़ा कर ही नहीं रह जाते चेतन, उत्तर आधुनिक प्रपंचों की पोल भी वे उसी मुस्तैदी से खोलते हैं :

वह जात से ब्राह्मण था
शिक्षा में अँग्रेज
प्रकृति से अराजक तानाशाह
आदत में नशेड़ी भावना से कलाकार
और विचार से कम्युनिस्ट... (कविता : आखिरी कामरेड)

चेतन की कुछ कविताओं पर विष्णु खरे का असर दिखता है, कहीं-कहीं रघुवीर सहाय भी याद आते हैं, प्रतिवादी स्वर धूमिल से तीखा होने पर भी चेतन की शैली उनके जैसी नहीं है। दरअसल, चेतन की शैली चेतन जैसी है। चेतन को अगली लड़ाई अपनी इस शैली से ही लड़नी पड़ेगी। धूमिल जैसे लड़ाकू भी अपनी शैली से नहीं लड़ सके थे, यह याद रखते हुए। अगर चेतन आगे अपना संघर्ष जारी रखते हैं तो शायद हिंदी-कविता को आगे और भी मंज़िले मिलें।

•

एक 'सचमुच का पहाड़' तलाशता कवि

जैसे मुक्तिबोध के बाद उसी तरह की बहुविध बेचैनी से भरा कवि हिंदी-कविता को मिलने वाला हो। यह बेचैनी यूँ तो आलोक धन्वा की लंबी कविता 'जनता का आदमी' में शिद्दत से मौजूद है और धूमिल की कविताओं में भी। ऋतुराज के यहाँ उसके बहुत गहरे रंग हैं और विधानंद सहाय के यहाँ भी वह दिखती है थोड़ी तुर्श। पर इस तथाकथित उत्तर आधुनिक होते समय में संजय कुंदन की कविताओं में अभिव्यक्त बेचैनी का मन्तव्य ज्यादा साफ है। वह अतीतवेत्ताओं की शास्त्रीय बन चुकी बेचैनी (चिंता) नहीं है। वह केवल अपनी राह बनाने को उद्धत बेचैनी नहीं है, बल्कि ढेर सारे बंद रास्तों को खुलवाने के लिए लगातार चोट करती बेचैनी है।

संजय की कविताओं में अपने समय के दुःदिवास्वप्न साफ देखे जा सकते हैं। उनकी मुखालफत भी वहाँ साफ देखी जा सकती है। सिक्कों की कातिल झनकार वहाँ कवि को बराबर परेशान कर रही है तो दूसरी ओर घर का पारंपरिक स्वरूप उसे लुकाठी ले बहराने को मजबूर कर रहा है। कवि पूरे संग्रह में इस सबसे दो-दो हाथ करता दिखता है। एक सच्ची जिद के बिना क्या कविता का होना संभव है, शायद नहीं। ऐसे में जब आज के अधिकांश कवि अपने समय की दुश्चिंताओं को लेकर इस कदर परेशान हैं कि उनकी चिंताएँ रिरिआहट में बदल रही हैं, संजय कुंदन साफ-साफ लिखते हैं कि इस 'जिद' को उन्होंने चुना है–

दुख बार-बार मुखौटे
बदल-बदलकर आता है
हमने ही दीं उसको ये भूमिकाएँ
हमने ही न्यौता उसे

हम चाहते तो सीधे रास्ते चल सकते थे
अपने पूर्वजों की जलाई आग को अगोरते हुए...
अगर तालियाँ बजाई होतीं
एक विदूषक की मुद्राओं पर

तो शायद मिल जाती कुर्सी...

पर हम तो जीभ निकाल
उसे चिढ़ाते रहे...। (जिद्दी)

अपने समय के विदूषकों को पहचान उसे 'जोकर' की संज्ञाएँ तो कई कवियों ने दी हैं पर उनमें से अधिकांश उसकी भंगिमाओं से त्रस्त दिखते हैं, यह कुंदन हैं जो भयभीत ना हो विदूषकों को 'जीभ बिराते' हैं।

अपने समय की सांस्कृतिक दरिद्रता को भी कुंदन पूरी ताकत से उकेरते हैं। बाजार का सौंदर्यशास्त्र चारों ओर पसरता जा रहा है और सिक्कों से अहमकाना मुहब्बत के इस बाजारू दौर में भी कवि हमेशा एक नई सजी-धजी किताब पाने को उद्धत दिखता है–

मेरी जिंदगी से लुप्त होती जा रही हैं किताबें
जैसे रक्त में कम होता जा रहा हो लोहा–
एक बिल्कुल नयी सजी-धजी किताब
तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है
चलो उसके पास... (किताबों के बगैर)

अपने समय से जूझता हुआ कवि बार-बार चोट खाता है पर उसकी आशा मरती नहीं है, वह खुद को एक भरे-पूरे झुके पेड़ की तरह महसूसता है और ये आत्म-विश्वस्त मुद्राएँ समय को खिजाती हैं–

वह चाहता है
उसके इशारे पर
रातों रात बदलें मेरी मुद्राएँ...
...वह खीझता है
कि मेरे सिरहाने में
एक बाँसुरी और वर्षों पुरानी इच्छाएँ
पड़ी रहती हैं अब भी... (यह समय)

'घर' कुंदन की कविताओं में एक दुःस्वप्न की तरह आता है। जिससे वह अपने ढंग से लड़ता है और उसकी रूढ़ियों को परिभाषित करता है। इसके बावजूद वह बोहेमियन नहीं होना चाहता है, बल्कि एक छोटे-से अपने घर की इच्छा भी वह भीतर दफन रखता है।

घरों में नहीं रहते विचार
एक जिद्दी शब्दकोश रहता है वहाँ
जो डरता है
पंख फड़फड़ाते एक नए शब्द से...

मध्यवर्गीय घर के रूढ़िवादी चेहरे को इससे पहले इतने साफ व तीखे ढंग से सामने नहीं लाया जा सका है—

जब घरों में रहने लगते हैं विचार
एक निरीह बूढ़ा उतरता है
युद्ध के मैदान में
...विचार के खिलाफ
पहले वह रूदन को हथियार बनाता है
फिर देवताओं को, पूर्वजों को
फिर अपनी हड्डियों को
वज्र में बदलने को तैयार
अपनी मृत्यु को हथियार बनाता है...
और अंत में एक नौजवान
सुलगती हुई लुकाठी की तरह
धुंधुआता हुआ
निकलता दिखाई देता है
घर से बाहर। (घरों में नहीं रहते विचार)

कवि को 'एक और घर की तलाश' भी है—

मुझे तो बस एक
छोटा-सा घर चाहिए...
जिसमें एड़ी धँसाकर कह सके
मेरी आत्मा
यही है मेरी डीह।

'सचमुच का पहाड़' कुंदन की आरंभिक कविताओं में एक है—

कितना अलग है सचमुच का पहाड़
लगता है जैसे साँस ले रहा हो।

सौंदर्यदृष्टि के लिहाज से यह कुंदन की सबसे सुंदर कविताओं में है। दिल्ली जैसे महानगर में रपटते हुए वह अपने एक छोटे-से घर की इच्छा बचाए हुए है और बचाए हुए है 'सचमुच का पहाड़'। इस सचमुच के पहाड़ को वह पहचानता है आज भी, कि वह 'कितना अलग है।' कितने अलग इस सचमुच के पहाड़ को पहले देखा था कवि ने कभी, अभी देखें तो वह इसी पहाड़ की चढ़ाई पर है। कभी अगर वह इसे विजित कर सका तो वह एक बार फिर अनुभव करेगा, कि कितना अलग था वह सचमुच...।

•

प्रेम की असंभाव्यता

एक ऐसे समय में
जब आकाश में चीलें मंडरा रही हैं...
मैं एक आसान शिकार की तरह
सड़कों पर घूमता हूँ
अपनी वाणी के सच को खोजता हुआ

इधर नामवर सिंह अपने भाषणों में जिस पश्चिमी बहुलतावाद के आक्रमण की बात किया करते हैं, उसे पंकज चतुर्वेदी अच्छी तरह पहचानते हैं। यह बहुलतावाद हमारी अनेकता में एकता की विरासत को बुरी तरह नष्ट कर रहा है, और पंकज को भय है कि वे किसी भी समय इस बहुलतावादी बाज़ार की वीभत्सता के शिकार हो सकते हैं: पर पंकज जानते हैं कि आज़ाद मनोवृत्ति तब ही ज़िंदा रहेगी, जब उसे आज़ाद वातावरण मिलेगा और कवि उसे ज़िंदा रखने पर अड़ा है। इसीलिए वह बौखलाता हुआ अपनी वाणी के सच को खोजता फिरता है। बहुलतावाद की ओट में हो रहे हमले को खूब पहचानते हैं पंकज, वे लिखते हैं—

लेकिन जब तुम घर से बाहर निकलोगे...
तेज ट्रैफिक की शक्ल में
कुछ जानवर तुम्हें विचलित कर देंगे...
कि जब तुम कुछ कहना चाहोगे
हर शब्द को
सरकारी गोदामों का अन्न खाकर
पुष्ट हुए
चूहों ने
कतर डाला होगा।

बहुलतावाद का यह हमला बहुआयामी है। यह हमारी वृत्ति को निकम्मा बना रहा है, यह बहुरूपिए की बहुलता है, जो हमें अंधा बनाती है, गूँगा बनाती है, यहाँ

कवि साफ देखता है कि यह हमला सभ्यता और संस्कृति पर है और इसमें केवल कवि नहीं उसकी सोच को धार देने वाले उसकी चेतना के गाँव भी हारते हैं :

पर यह सिर्फ मैं नहीं जो हारता हूँ...
हर लड़ाई में
मेरे साथ
मेरी चेतना के गाँव हारते हैं।

यहाँ कवि महसूस करता है कि इस हार से एक असहायता पैदा होती है जो हमारे सपनों पर राख बिछाती चलती है। और कवि का विश्वास हर जगह से डिगता जाता है– 'कभी दुखें ही नहीं⁄ इतने पुख़्ता नहीं है विश्वास भी।' या

'यह सुबह
किसी स्वप्न की हत्या सरीखी है
फिर यह कैसे सौंदर्य की शुरुआत है
मेरे ईश्वर!'

आक्सफोर्ड, कैंब्रिज की कानवेंटी ओपनिवेशिक महोत्सवी समझ पर अपनी राय ज़ाहिर करते नामवर कहते हैं– 'पश्चिम का भी जो सबसे सतही और सबसे उच्छिष्ट कचरा है, यह उसकी भी तीसरे दर्ज़े की नकल है, यह जड़-मूल से उखड़े कटे लोगों की सांस्कृतिक समझ का दौर है, ये लोग सौंदर्य-सौंदर्य, कला-कला पर इतना बल देकर मनुष्य विरोधी राजनीति का सौंदर्यीकरण कर रहे हैं। लेकिन धीरे-धीरे इनके समारोहों, उत्सवों और आयोजनों में इस संस्थान का असली चेहरा उजागर होता जा रहा है।'

पंकज की कविताएँ इस उत्सवी दृष्टि की मार्मिक आलोचनाएँ हैं : इनमें जीवन की चेतना को विकसित करने वाले ऊर्जा से भरे क्षणों की निरंतरता पर प्रायोजित उत्सवता के हमलों को समझने और उनसे जूझने की कोशिश की है कवि ने। 'यह भी होगा' कविता में वह लिखता है–

वे भूल जाएँगे
जीवन के हर सादे क्षण में
साथ देने की शपथ
वे हमें
उत्सव में बुलाएँगे...
किसी नरक के उदास पक्षियों की तरह
हम उनके स्वर्ग में शरीक होंगे।

सदी के अंतिम वर्ष में फैल रहे बाज़ार के ग्लोबल अँधेरे में पंकज चतुर्वेदी का कवि खुद को उदास पक्षी की तरह पाता है। यह उदासी और रुदन स्थायी भाव है। रुदन की लय को तोड़ना कवि को कठिन लगता है। पर रोते-रोते ही अचानक

किसी कोने से हँसी फूट पड़ती है तो कवि को समझ में नहीं आता कि यह क्या है? और वह उसे रहस्य करार देता है। वह लिखता है–

किसी भी विलाप की
एक कठिन लयबद्धता को तोड़ना
सबसे मुश्किल काम है
...रोते
जब तुम सहसा मुस्करा पड़ते हो...
वह मुस्कराहट तुम्हारी आत्मा का सबसे बड़ा रहस्य है
क्योंकि वहीं से जड़ हो गए आदमी के
हर नए प्रस्थान की शुरुआत है।

हालाँकि यहाँ अगली ही पंक्ति में कुछ रहस्य नहीं रह जाता। जैसे उस रहस्य में कोई चेहरा खिल गया हो। दरअसल यह कवि की स्मृति है जो उसकी रुदनशीलता की लय को तोड़ती है।

'एक संपूर्णता के लिए' की अधिकांश कविताएँ प्रेम कविताएँ हैं, इस बाज़ार के हमले में कठिन है प्रेम, इस बाज़ार में रोशनी बहुत है, जिसकी चौंध प्रेम के लिए ज़रूरी एकाकीपन को तोड़ती है। 'शोर बहुत है इस जमाने में और सुनवाई नहीं है' कहीं। और कवि का रुदन शोर और चौंध-भरे बाज़ार में प्रेम की असंभाव्यता का रोना है। संघर्ष की निरंतरता के अभाव ने इस असंभाव्यता को एक रहस्यावरण दे दिया है। पर प्रेम की स्मृति है, जो बराबर इस रहस्य को बच्चों की निर्मल हँसी की तरह खिलखिलाकर तोड़ने की कोशिश करती है।

संग्रह में 'तुम्हारी अनुपस्थिति' नाम से प्रेम कविताओं का एक खंड है। इस खंड में इस कठिन समय में प्रेम की बढ़ती असंभाव्यता की कविताएँ हैं : इनमें प्रेम की पारंपरिक उदात्तता नहीं है और मुक्ति का संघर्ष भी नहीं है। ऐसे में कवि का प्रेम विवशता में तब्दील होता जाता है। उसकी हर गली प्रेमिका के घर तक जाकर समाप्त हो जाती है। और वह इस आशंका से काँप जाता है कि कल प्रेमिका के दरवाजे पर दस्तक देना भी संभव नहीं होगा। इसी दीवानगी और मोह में कवि दरवाज़ों को ही प्रतीक मान अपना प्रेम उसके बहाने प्रकट करता है। 'दरवाज़ों को चलना चाहिए' नाम से भी एक खंड है कविता-संग्रह में। इसमें वह लिखता है– 'हम दरवाज़े थे⁄ देखने और देखकर⁄ रह जाने को ही⁄ गढ़े गए।' यहाँ दरवाज़ा कवि खुद है, प्रेम की असंभाव्यता ने उसे जड़कर दरवाज़े में तब्दील कर डाला है एक अन्य कविता में वह लिखता है– '...यदि सुबह आई⁄ तो मैं अपने दरवाज़े बंद कर लूँगा⁄ और कहूँगा⁄ कि अब बहुत देर हो चुकी है'। इसी कविता के अगले पैरा में कवि खुद दरवाज़ा बन जाता है और दरवाज़ा बने देखता रहता है। वह सुखी होता है कि उसके दरवाज़े उसकी प्रेमिका सुबह आई है–

देर से मिले न्याय की तरह
सुबह आएगी/ मेरे दरवाज़े
रोकर लिपट जाएँगे उससे
दरवाज़े के पीछे मैं
खड़ा रहूँगा कहीं उसे देखता।

यहाँ प्रेम की इस असंभाव्यता से पैदा विवशता से जब कवि मुक्त होता है, असंभाव्यता के कारकों पर तीखी टिप्पणी करता है–

जीने का जोखिम न उठाना
सुख है जीने का
मेरे आस-पास

और यह कहीं-न-कहीं से खुद पर भी एक टिप्पणी है। क्योंकि कवि आगे लिखता है–

उन सबसे मुक्ति के लिए
उसकी आँखों में
एक झील फड़फड़ाती है
पर वह बाढ़ बन जाने से
क्यों घबराती है।

यहाँ कवि की विवशता किसी के पूरी तरह साथ ना आ पाने की भी विवशता है। ऊपर कवि का सवाल तीखा है जो उसकी प्रेमपगी भाषा को दरकाता उसे कुमार विकल और सर्वेश्वर के निकट ले जाता है। कवि अपने ही इस विस्फोट को पहचाने और उसे ऊपर आने दे शायद उसका खुद का खड़ा किया रहस्यावरण टूटे और उसके दरवाज़ों जैसे जड़ प्रतीक खुलें-टूटें या बिखर जाएँ।

क्योंकि आगे कवि प्रेमिका की पुकार पर अनिर्णय की स्थिति में है कि– 'मैं जाऊँ या न जाऊँ/ यह पुकार है या कुछ और।' यहाँ असमंजस साफ है कवि का। कि बाढ़ बन जाने से उसकी प्रेमिका ही नहीं घबराती है, बल्कि बाढ़ बन जाने के बाद की स्थिति से कवि भी घबराता है और उसकी पुकार पर किनारा करने की कोशिश करता है। यहाँ झील का फड़फड़ाना और उसमें बाढ़ की आशा करना; कवि को इन भाषायी व तथ्यगत भूलों पर ध्यान देना चाहिए।

पंकज की इन कविताओं की मूल पूँजी भावुकता और साफ बयानी है। पर इतने से काम चलेगा क्या! मुक्तिबोध लिखते हैं– 'भावनाएँ बच्चा हैं अगर इन्हें आदमी नहीं बना सकते तो मार डालो।' पंकज के ये बच्चे अच्छे हैं जैसे कि सभी बच्चे होते हैं। ये बच्चे सच्चे भी हैं, देखना है आगे वे किस कदर और किस हद तक इन्हें आदमी बना पाते हैं।

•

कविता की तीसरी पीढ़ी में 'उधार'

मैंने धूप से कहा : मुझे थोड़ी गरमाई दोगी उधार?
चिड़िया से कहा : थोड़ी मिठास उधार दोगी?
मैंने हवा से माँगा : थोड़ा खुलापन–बस एक प्रश्वास,
लहर से; एक रोम सिहरन-भर उल्लास।
–सबसे उधार माँगा, सब ने दिया।
यों मैं जिया और जीता हूँ...
(कितनी नावों में कितनी बार– अज्ञेय)
अपना क्या है इस जीवन में
सब तो लिया उधार
सारा लोहा उन लोगों का
अपनी केवल धार
(अपनी केवल धार– अरुण कमल)
रखता हूँ बढ़ई के कुछ औजार
लोहार का घन
रखता हूँ मरझतियों के जोड़
कुली का माथा
धुनिए की धुन
जिन-जिन के ये हुनर
सबका आदर
सबकी बाकी है गुरु दक्षिणा
सबसे सीखा आँख बचाकर
(मिट्टी के फल– प्रेमरंजन अनिमेष)

यहाँ आप हिंदी-कविता की तीन पीढ़ियों में एक ही कथ्य को बदले आवरणों में अभिव्यक्त होता देख सकते हैं। तीनों कविताएँ इन तीन कवियों की प्रतिनिधि कविताएँ भी हैं। इनमें जीवन और कविता के विभिन्न मुक्त श्रोतों के प्रति एक

चतुर और विनम्र कृतज्ञता को स्वर दिया गया है। उधार से काम चलाने वाली ऐसी जमात को याद कर बांग्ला कवि शक्ति चट्टोपाध्याय ने लिखा है—

शब्दों ने गढ़ लिया है अपना एक शहर
अक्षर ही हैं घर-द्वार
वर्णमाला से कुछ-कुछ लेकर उधार
उन्होंने अपने लिए निकाल ली है एक पूरी वनभूमि
पर यह सब सच नहीं है।

अज्ञेय और अरुण कमल के कथ्य से समानता रखने वाली अनिमेष की कविता का उपरोक्त अंश संग्रह की चौथी कविता 'साज-बाज' से है। अपने इन दो अग्रज कवियों के मुकाबले अनिमेष एक 'चुप्पा' कवि हैं। वे अपने समय से संवाद बना पाने की बजाय उससे 'आँखें बचाकर' अपना काम करते हैं।

अनिमेष की कविताओं के कई रंग हैं। इनमें सबसे गहरे प्रकृति से संबंधित विषयों पर लिखी कविताओं के हैं। शायद प्रकृति को गुरु दक्षिणा देने का झंझट नहीं है इसलिए उसके मुक्तहस्त साहचर्य को अनिमेष ढंग से अभिव्यक्त कर पाते हैं। 'सूर्यास्त', 'सूर्य संभव' और 'पूरे चाँद की रात' जैसी कविताओं में उनकी काव्यकला अपने जोर पर है—

पूरे चाँद की रात है यह
चाँद खींच रहा अपनी ओर
जितना कुछ बहता हुआ तरल।

'छाता' अनिमेष की एक अच्छी कविता है। इसके माध्यम से वह नागर-जीवन की विडंबनाओं को उसके कई आयामों के साथ अभिव्यक्त कर पाते हैं—

इस शहर के लोगों के पास जो छाता है
उसमें कोई एक ही आता है
बराबर लगता है
छाते
रिश्ते-नाते हैं
बरसात में काम आते हैं
और अक्सर
छूट जाते हैं।

आजकल कविता का पचास फीसदी ऐसा लिखा जा रहा है। जिसके तहत कवि ऐरे-गैरे किसी भी विषय पर कविता लिखने की भूख और सामर्थ्य का इस्तेमाल कर कुछ रच दिया करता है। इस रौ में कविता से इस तरह काम लिया जा रहा है, जैसे वह एक प्रयोजनीय वस्तु हो। ये कविताएँ वैसे गीतों की तरह लगती हैं जिन्हें किसी गीतकार से डंडे के जोर पर गवाया गया हो कि चलेगा नहीं तो पड़ा

डंडा तेरे सर। अनिमेष के यहाँ भी ऐसी कविताओं की भरमार है। 'झिनझिनी', 'गालियाँ' आदि ऐसी ही कविताएँ हैं।

जब तक झिनझिनी रही मुझे
कोई ले गया
मेरे हाथ से घड़ी

अव्वल तो झिनझिनी तब होती है, जब आदमी निश्चित घर-द्वार पर बैठा होता है लगातार। जहाँ से घड़ी छीनने तथा साइकिल चुराने जैसी बेसिर-पैर की घटनाएँ नहीं घट सकतीं। झिनझिनी ऐसी भी नहीं होती कि अगर आपको होने लगे तो चोर-उचक्कों को वह दिख जाए। ऐसी कविताएँ कवि की कहानी को ज्यादा दर्शाती हैं, उचक्कों से भरे समय को कम। 'गालियाँ' में भी ऐसी गड़बड़ियाँ बहुत हैं, जैसे— 'ईमानदार तीर की तरह हैं गालियाँ'। यह ईमानदार तीर क्या होता है? एक जगह कवि रिश्तों को छाते की तरह छोड़ देना पसंद करता है, तो यहाँ वह गालियों में रिश्तों की आत्मीयता बचाए रखने की जिद भी करता है। ऐसी कविताएँ दृष्टि का अभाव दर्शाती हैं। अनिमेष की स्त्रियाँ भी पिछड़े सामंती समाज की हैं।

हार न मानने वाली स्त्री के पास
नाखूनों के सिवा
उसका हथियार हैं गालियाँ ही

नयी रोशनी कवि तक पहुँची नहीं है। पूरे संग्रह में इसकी कोई मिसाल नहीं मिलती। कवि के पिछड़ेपन के और भी दर्जनों उदाहरण हैं। 'जूते का मुँह' कविता को ही लें। 'मेरी आत्मा को स्वीकार नहीं/ किसी की खाल में पाँव डालना/ चाहे वह मरी ही सही'। गाय पर लिखी एक कविता में अनिमेष की पंक्ति है— 'कुछ भी खाकर/ गोबर करती पवित्र'। गाय पर ही कुमार अरुण की काव्य पंक्तियाँ देखें तो अनिमेष के यहाँ जो द्वंद्वात्मक चेतना का अभाव है उसे पहचान सकते हैं। अरुण लिखते हैं— गाय का मुँह बहुत सुंदर होता है। बाबू कहते हैं उसका चमड़ा बहुत उम्दा... ।' 'स्वतंत्र हरकत कर रहे हैं, मेरे अँगूठे/जूते के भीतर बेपरवाह'। यहाँ भी कवि व्यक्तित्व के निर्माण की पोल खुलती है। वह कपड़ों के जूते के भीतर ही स्वतंत्र और बेपरवाह हो पाता है। बिना किसी खोल या आवरण के कवि कहीं रह नहीं पाता। धूमिल के पाँव तो जूते में महकने लगते थे। यूँ कैनवस के जूते को फाड़ बाहर रहने वाले अँगूठे का प्रसंग प्रेमचंद के यहाँ का है। चुप्पा वृत्ति की जो एक सीमा है, वह कवि की भी है।

वैसे इन बातों को आप कवि की दृष्टि का प्रमाण भी मान सकते हैं कि वह अपने समय की बयार के हिसाब से ही अपनी पीठ घुमाए है। समय के पीछे रूढ़ियों की ओर लौटने की जो जद्दोजहद अभी चल रही है, राजनीति और इतिहास के क्षेत्र में, उसे अनिमेष कविता की दुनिया में ले आये हैं और वहाँ आप खोल के बाहर आकर रचने की माँग एक कवि से ना करें तो ही बेहतर।

•

जमीनों का विस्तार

विष्णु खरे के संग्रह 'सबकी आवाज के पर्दे में' की कविताओं से गुजरने के बाद निलय उपाध्याय की कविताओं से रू-ब-रू होना ऐसा लगता है जैसे पहाड़ों की कठिन चढ़ाई के बाद जमीनों का अनंत विस्तार मिल गया हो। चढ़ाई के वक्त प्रदूषण मुक्त पर विरल हवा की थकान के बाद ही सघन ऑक्सीजन के आधिक्य वाली हवा का सही आनंद लिया जा सकता है और वह निलय की कविताएँ हमें देती हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियों की गुलामी और अश्लीलता की मार से जकड़ते हमारे फेफड़ों को निलय की कविताएँ नई हवा-सी ताकत देती हैं। केदारनाथ सिंह की कविता में जो जीवन की धारा का मर्मर संगीत है और केदारनाथ अग्रवाल के यहाँ प्रकृति का जीवन, दोनों का सामंजस्य निलय की कविताओं में हमें मिलता है।

'सुनो हमें घर ले चलो
हम दाने हैं मकई के
हम तुम्हारा घर खुशियों से भर देंगे
भगा देंगे साल के दुख।'

'हम रहेंगे– तो बनिया तुम्हें उधार देगा
हम रहेंगे– तुम डाँट देना दुख को
हम रहेंगे– तुम सो लेना नींद भर...

ले चलो
ले चलो नहीं तो लुटा देगी हमें धूप...
ओ किसान हमें घर ले चलो
हम तुम्हें बिजूखे से आदमी बना देंगे

लंबी कविता के अंतिम भाग की ये कुछ पंक्तियाँ निलय के दृष्टि संपन्न सौंदर्यबोध, ग्रामीण महाजनी सभ्यता के अवशेषों की मौजूदगी, एक विज्ञान सम्मत दृष्टि और जीवन की परिवर्तनशीलता में जीवट की निरंतरता को जितनी सरलता से उद्घाटित करती हैं, वह एक साथ आज की तारीख में हिंदी कविता में दुर्लभ है।

गाँवों के देश भारत की ग्रामीण सभ्यता आज भी उधार-खाते पर आधारित है और आदमी बनने के लिए आज भी भारतीय किसान को साल-भर बिजूखे की जिंदगी जीनी पड़ती है। पर फसल को खलिहान से घर ले जाते वक्त और उसके आस-पास के भरे-पूरे सप्ताहों में ही जो थोड़ी-सी खुशी भारतीय खेतिहर वर्ग (जिसे कथित सभ्य समाज 'अगहन का राड़' कहता है) के हिस्से आती है। उसी के बल वह साल-भर की बिजूखे की जिंदगी गुजार देता है। क्योंकि घर के आगे चारों ओर बाजार फैला है, सात समुंदर पार तक, जो बार-बार आदमी को बिजूखा बना देता है। साल में एक बार आदमी बन पाने की खुशी को ही निलय की कविताएँ अपनी ताकत बनाती हैं और उसी के भरोसे वे इस महाजनी सभ्यता से लड़ने की बात करते हैं। इस खुशी में भी उनकी वैज्ञानिक दृष्टि मौसम के मिजाज के प्रति सचेत होने का ध्यान रखती है। वे कहते हैं कि– 'हमें घर ले चलो, नहीं तो धूप लुटा देगी हमें।' यह धूप बहुराष्ट्रीय बाजार का हमला है जो हमारे सत्व का पेटेंट करा लेना चाहती है। पर निलय यहाँ अपने ढंग से सोचते हैं और विज्ञान का सहारा ले फिर एक मुकम्मल जवाब देते हैं–

विपाक्त घोलों से रक्षाक्षमता विकसित करते
जैसे ढीठ हो जाते हैं
कीड़े
ढीठ हो जाएँगे हम सब।

वस्तुतः बहुराष्ट्रीय बाजार के विपाक्त हमले से रक्षाक्षमता विकसित कर चुकी है निलय की कविता।

'मोटांजा' कविता में मोटे अनाजों को याद करते वे लिखते हैं–

'बाजरे' के बज्जर लोग और
उनके खेत
घिर गए हैं सिक्के और स्वाद से।

हालाँकि बहुत से रथी-अर्धरथी स्मृतियां, गाथाओं और माता के अंचल के हवाले खुद को करने लगे हैं पर एक लड़ाकू पीढ़ी भी सामने आ चुकी है और उनकी पीठ पर कुछ प्रौढ़ हाथ भी हैं। तभी तो युवा कवि संजय कुंदन सिक्के व स्वाद के घेरे को इस तरह महसूसते हैं। 'सिक्के' कविता में वे लिखते हैं–

उन्हें नहीं मालूम कि बिना कोई युद्ध लड़े
उन्होंने कैसे जीत ली पूरी दुनिया।

वस्तुतः सिक्के के इस छद्म अस्तित्व पर उठी यह अंगुली ही इसका जवाब है। क्योंकि सिक्के के इस रहस्यवादी दर्शन से हार मानना अपने वैज्ञानिक विकास को झुठलाना और अज्ञान के छल को मान लेना है। इस छल की पहचान ज्ञानेन्द्रपति के यहाँ गहरी मिलती है–

एक बैंक के मुंडाकार वॉल्ट में से निकलकर

चली आती हैं आइंसटाइन की अगाध आँखें
नीलामी पर चढ़ने
उनकी बगल में पिकासो की यशस्वी कूची है।

अपने समय की इस उधेड़बुन को निलय अपनी एक पंक्ति में अपदस्थ करते हैं, जब वे लिखते हैं–

'जैसे ढीठ हो जाते हैं कीड़े ढीठ हो जाएगी यह पृथ्वी।'

निलय की एक महत्त्वपूर्ण कविता है– 'बेहया'। बेहया की झाड़ पर लिखते वे बाजार की बेहयायी बड़ी सफलता से दिखलाते हैं–

किसी काम का नहीं इनका हरापन
मवेशी भी नहीं खाते इन्हें

वस्तुतः अपने सहज आकार से बड़े व बे-स्वाद टमाटरों, आलू, करेले, और अन्य जिंसों की पेटेंट प्रजाति जो आज हमारे यहाँ फैलती जा रही है, उसे जानवर भी खाना पसंद नहीं करते और हमारे यहाँ उपजने वाली फसलों की सुगंध को नष्ट करती यह पैदावार बाजार के द्वारा बीहड़ की तरह फैलाई जा रही है–

ये बीहड़ हैं
बीहड़ों के बाड़ नहीं होते

पर इस बाजार की प्रकृति व सीमा को भी पहचानता है कवि, वह जानता है कि यह फसल नहीं–

दो फसलों के बीच का परती समय है यह
खेत की चमड़ी दबाते
कंधों तक
चढ़ आए हैं बेहया

कवि को आशा है कि जल्द ही मौसम अनुकूल होगा। इस बाजार से हम निपट लेंगे क्योंकि अपनी छाती पर उग आए बेहया और जंगली बाजारू घास को नष्ट कर देने के प्रयास में–

'किसी नवजात को
जन्म देने के लिए ऐंठ रही है पृथ्वी की कोख'।

ग्रामीण परिवेश पर आए इस बाजारू संकट से निपटने का रास्ता भी बतलाता है कवि। यहाँ कवि की सोच गाँधी व शास्त्री की असहयोगी व स्वावलंबन पर आधारित सिद्धांतों पर टिकी लगती है। वह लिखता है–

एक मुट्ठी अन्न रोज कम खाएँगे और बचाएँगे बीज।

'मकड़ी' कविता में कवि एक चेतावनी भी देता है–

तड़कते आसमान से बिजली की रास पकड़ कूदने वाले– पछताएँगे
सूखे नारियल में पानी की तरह बचा रहेगा जीवन।

•

उजाड़ का वैभव दर्शाती कविताएँ

संबंधों की अंतरंगता व जीवन की लय को उजाड़ते आधुनिकता के पाखंड को अपने दूसरे संग्रह 'क्रूरता' में कुमार अंबुज ने अपनी सजगता व जिजीविषा के बल पर अभिव्यक्त किया है। कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों तरह के उजाड़ के वैभव को ये कविताएँ दर्शाती हैं। जीवन में बहुत सारी जरूरी चीजों की उपेक्षा का जो दौर चल रहा है उसकी क्रूरता पर चेतावनी है यह संग्रह। अपनी चेतावनी को वे अपने डर की तरह अभिव्यक्त करते हुए 'क्रूरता' के बारे में बतलाते हैं कि, ''यही ज्यादा संभव है कि वह आए।'' पर क्रूरता इस संग्रह का स्थायी भाव नहीं है। इस अरोपित 'क्रूरता' के विरुद्ध कौन-कौन सी चीजें कैसे अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत हैं। और वे चीजें और उनकी स्मृति भी कैसे देती है नया जीवन, यही इस संग्रह का ध्येय है। वे लिखते हैं–

इस जीवन में जीवन की ओर वापस लौटने के
इतने दृश्य हैं चमकदार कि उनकी स्मृति भी देती है एक नया जीवन।

उजाड़ और उपेक्षित जीवन के वैभव को जो कविताएँ दर्शाती हैं उनमें प्रमुख हैं– 'उजाड़', 'चाय की गुमटियाँ', 'शहद', 'मेरी पुरानी जगहें', 'रात में पुलिया पर', 'अवसाद में एक दिन' आदि। जिजीविषा के सौंदर्य और उसकी स्मृति पर आधारित हैं ये कविताएँ, कवि देखता है कि जीवन में जहाँ उजाड़ ज्यादा है वहीं धूप भी गिरती है बराबर और उदासी को उद्‌भासित करती है।

धूप तेज थी
और उजड़ गई चीजों पर गिर रही थी
चीजों की उदासी चमक रही थी धूप में
...
हम सबके चले जाने के बाद
शायद निखार पर आएगा
उजाड़ का सौंदर्य

उजाड़ का ऐसा सौंदर्यबोध हिंदी कविता में और शायद ही कहीं मिले। यह

चली आती हैं आइंसटाइन की अगाध आँखें
नीलामी पर चढ़ने
उनकी बगल में पिकासो की यशस्वी कूची है।

अपने समय की इस उधेड़बुन को निलय अपनी एक पंक्ति में अपदस्थ करते हैं, जब वे लिखते हैं—

'जैसे ढीठ हो जाते हैं कीड़े/ ढीठ हो जाएगी यह पृथ्वी।'

निलय की एक महत्त्वपूर्ण कविता है— 'बेहया'। बेहया की झाड़ पर लिखते ये बाजार की बेहयायी बड़ी सफलता से दिखलाते हैं—

किसी काम का नहीं इनका हरापन
मवेशी भी नहीं खाते इन्हें

वस्तुतः अपने सहज आकार से बड़े व बे-स्वाद टमाटरों, आलू, करेले, और अन्य जिंसों की पेटेंट प्रजाति जो आज हमारे यहाँ फैलती जा रही है, उसे जानवर भी खाना पसंद नहीं करते और हमारे यहाँ उपजने वाली फसलों की सुगंध को नष्ट करती यह पैदावार बाजार के द्वारा बीहड़ की तरह फैलाई जा रही है—

ये बीहड़ हैं
बीहड़ों के बाड़ नहीं होते

पर इस बाजार की प्रकृति व सीमा को भी पहचानता है कवि, वह जानता है कि यह फसल नहीं—

दो फसलों के बीच का परती समय है यह
खेत की चमड़ी दबाते
कंधों तक
चढ़ आए हैं बेहया

कवि को आशा है कि जल्द ही मौसम अनुकूल होगा। इस बाजार से हम निपट लेंगे क्योंकि अपनी छाती पर उग आए बेहया और जंगली बाजारू घास को नष्ट कर देने के प्रयास में—

'किसी नवजात को
जन्म देने के लिए ऐंठ रही है पृथ्वी की कोख'।

ग्रामीण परिवेश पर आए इस बाजारू संकट से निपटने का रास्ता भी बतलाता है कवि। यहाँ कवि की सोच गाँधी व शास्त्री की असहयोगी व स्वावलंबन पर आधारित सिद्धांतों पर टिकी लगती है। वह लिखता है—

एक मुट्ठी अन्न रोज कम खाएँगे और बचाएँगे बीज।

'मकड़ी' कविता में कवि एक चेतावनी भी देता है—

तड़कते आसमान से बिजली की रास पकड़ कूदने वाले— पछताएँगे
सूखे नारियल में पानी की तरह बचा रहेगा जीवन।

•

उजाड़ का वैभव दर्शाती कविताएँ

संबंधों की अंतरंगता व जीवन की लय को उजाड़ते आधुनिकता के पाखंड को अपने दूसरे संग्रह 'क्रूरता' में कुमार अंबुज ने अपनी सजगता व जिजीविषा के बल पर अभिव्यक्त किया है। कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों तरह के उजाड़ के वैभव को ये कविताएँ दर्शाती हैं। जीवन में बहुत सारी जरूरी चीजों की उपेक्षा का जो दौर चल रहा है उसकी क्रूरता पर चेतावनी है यह संग्रह। अपनी चेतावनी को वे अपने डर की तरह अभिव्यक्त करते हुए 'क्रूरता' के बारे में बतलाते हैं कि, "यही ज्यादा संभव है कि वह आए।" पर क्रूरता इस संग्रह का स्थायी भाव नहीं है। इस अरोपित 'क्रूरता' के विरुद्ध कौन-कौन सी चीजें कैसे अपने अस्तित्व के लिए संघर्परत हैं। और वे चीजें और उनकी स्मृति भी कैसे देती है नया जीवन, यही इस संग्रह का ध्येय है। वे लिखते हैं—

इस जीवन में जीवन की ओर वापस लौटने के
इतने दृश्य हैं चमकदार कि उनकी स्मृति भी देती है एक नया जीवन।

उजाड़ और उपेक्षित जीवन के वैभव को जो कविताएँ दर्शाती हैं उनमें प्रमुख हैं— 'उजाड़', 'चाय की गुमटियाँ', 'शहद', 'मेरी पुरानी जगहें', 'रात में पुलिया पर', 'अवसाद में एक दिन' आदि। जिजीविषा के सौंदर्य और उसकी स्मृति पर आधारित हैं ये कविताएँ, कवि देखता है कि जीवन में जहाँ उजाड़ ज्यादा है वहीं धूप भी गिरती है बराबर और उदासी को उद्भासित करती है।

धूप तेज थी
और उजड़ गई चीजों पर गिर रही थी
चीजों की उदासी चमक रही थी धूप में
...
हम सबके चले जाने के बाद
शायद निखार पर आएगा
उजाड़ का सौंदर्य

उजाड़ का ऐसा सौंदर्यबोध हिंदी कविता में और शायद ही कहीं मिले। यह

उजाड़ ही है जिसमें स्थित है 'चाय की गुमटी'। हालाँकि गुमटी आधुनिकता की मुख्य सड़क के एक किनारे पर है पर बहुत बड़े जन-समुदाय के रास्ते के बीच में पड़ती है। वह विद्यार्थी, रिक्शावाले, अध्यापक, दफ्तर के बाबुओं और मजदूरों के लिए वहाँ पर्याप्त जगह है।

वहाँ पचहत्तर पैसे की चाय है
चीजों को दुर्लभ होने से बचाती हुई
विद्वानों को पता नहीं होगा
लेकिन वह गुमटी वाला पिछले कई सालों से
वित्तमंत्री की खिल्ली उड़ा रहा था।

...
बेंच कुल एक थी
और एक स्टूल जिस पर धूल और पसीने के अमरदाग थे
उनका सौंदर्य बुलाता रहा दुखी लोगों को बार-बार।

इन पंक्तियों से गुजरते हुए लगता है कि कुमार अंबुज ने वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह और युवा कवि आलोक धन्वा की सौंदर्य दृष्टि की विरासत को बखूबी संभाला है और विकसित किया है।

जिजीविषा की चाँदनी की उपेक्षा नागरी धूप कैसे करती है इसे 'शहद' कविता में देखा जा सकता है। मिठास इस कदर गायब होती जा रही है इस ज़िंदगी से कि लोग उसे पहचानते ही नहीं जैसे किसी अफसर का चपरासी उसके बूढ़े बाप को दरवाजे से लौटा रहा हो, वैसे ही शहद बेचने वाले की आवाज सभ्यता के खंडहरों से टकरा कर लौट जा रही है।

उसके बालों में फँसे हुए थे मोम के टुकड़े
इतना कठिन था उसका शहद कि उसके शरीर पर थे
भालुओं के नाखूनों के निशान

पर इतनी कठिनाई से प्राप्त 'शहद' का स्वाद ही बाकी नहीं था शहर में। उसे पेप्सी और कोका कंपनियाँ खा चुकी थीं।

बच्चे शहद के बारे में कुछ नहीं जानते, बूढ़े भूल चुके हैं उसका स्वाद और एक डर की वजह से नहीं चखना चाहते दुबारा शहद।

उजड़ चुके और उपेक्षितों के सौंदर्य के अलावे भी बहुत कुछ है इस संग्रह में। आधुनिकता की क्रूरता भी उद्घाटित हुई है नए रूपों में ताकि हम उन्हें पहचान सकें। और जो क्रूरता पहचान ली जाएगी, वह बद्री नारायण के शब्दों में खदेड़ी भी जा सकेगी। संग्रह में एक कविता है 'एक दिन' :

एक दिन हम सुबह उठते हैं और पाते हैं
विलासिताएँ बदल चुकी हैं

जीवन की अनिवार्यताओं में
...
उसी दिन हम देखते हैं
भावुकता मूर्खता का पर्याय बन चुकी है।
जिन बातों पर होते थे मतभेद
उन बातों पर हो जाती है एक दिन शत्रुता

ऐसे डरों को पिछले संग्रह में भी अभिव्यक्त किया था कवि ने। किसी कविता में उन्होंने लिखा था। 'एक क्षण मिली नौकरी और जिंदगी-भर नहीं छूटी।' पर इस एक क्षण के डर की जैसी पहचान है कवि को वह बताती है कि वह और उसका समाज ऐसे खतरों का सामना कर लेगा—

एक शुरुआत से खतरे में पड़ती है और कई चीजों की शुरुआत

'इस तंत्र में नौकरी' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ बतलाती हैं कि एक क्षण की नौकरी जो पिछले संग्रह तक कवि के लिए एक पहेली की तरह थी जिंदगी-भर नहीं हल होने वाली पहेली। वह पहेली अब खतरे में बदल चुकी है। खतरे हैं, तो हल भी हैं। आगे 'अभ्यास' कविता में वह लिखता है—

'एक कविता में नहीं आई दुख सहने की ताकत', 'यह तो एक संचित जिजीविषा है जो मिली है मुझे वनमानुष से', 'एक दिन में हल नहीं कर लिए गए सृष्टि के बहुतेरे प्रश्न यह सब अभ्यास की एक लंबी परंपरा है' ये पंक्तियाँ विश्वास दिलाती हैं कि क्षणों और दिनों के हमले से भी निबट लेगा आदमी। क्योंकि उसे अभ्यास है, अभ्यास की परंपरा है जो बाजारीकरण के रहस्यों के दुर्गम किले ध्वस्त कर देगी।

धर्म के नाम पर अंधविश्वासों का जो नया बीजारोपण हो रहा है उसे भी कई स्तरों पर कई ढंग से अपदस्त करने की कोशिश की है कवि ने। 'साध्वियाँ' कविता में वह लिखता है।

उनकी पवित्रता में मातृत्व शामिल नहीं है
संसार के सबसे सुरीले राग में नहीं गूँजेगी उनके हिस्से की पीड़ा

इसी तरह शंकराचार्य के साधुत्व पर सवाल उठाते हुए युवा कवि प्रसन्न कुमार चेतावनी देते हैं कि— स्त्री से भागो मत वरना हर युग में भारती तुम्हें पराजित करेगी और भी बहुत कुछ है इस संग्रह में, जो इसे 'किवाड़' से आगे ले जाता है। संग्रह को पढ़ते हुए कभी रघुवीर सहाय का लहजा याद आता है कभी केदारनाथ सिं[ह] का यूँ पिछले संग्रह से ही कुमार अंबुज की अपनी शैली भी विकसित हो चुकी थ[ी] जो इस संग्रह में भी मौजूद है। खुशी की बात है कि संग्रह की कई कविताओं [में] सौंदर्य और समझदारी का दबाव खुद अंबुज की मनोवैज्ञानिक शैली की सीमा[ओं] को तोड़ रहा है। इस स्व-अतिक्रमण से आशा बँधती है।

•

मैं सचमुच अपना भाग्य विधाता क्यों नहीं

तजेन्दर सिंह लूथरा बारीक आकलन, आब्जर्वेशन के कवि हैं। सम्मुख पड़ने वाली चीजों, स्थितियों को वे जिस जगह से उठाते हैं, वह उसकी विडंबनाओं को उसकी बहुआयामिता में सामने रखता है। अब शीर्षक कविता 'अस्सी घाट का बाँसुरी वाला' हो या छोटी सी कविता 'बसों से हारना'। उनका सचेत आकलन अपनी बात को सफाई से कह पाता है—

मैं दौड़ता रहा
कहीं ये भी ना निकल जाए
सारी उम्र
बसें ही पिछाड़ती रहीं मुझे।

इन चार पंक्तियों के माध्यम से तजेन्दर महानगरीय जीवन का एक चित्र ही नहीं खींचते, वे इस आधुनिक सभ्यता में मनुष्य की त्रासद स्थिति को भी उसकी मार्मिकता के साथ सामने रखते हैं। विकास के ये आधुनिक प्रतीक किस तरह हमें ही पीछे छोडते जा रहे इस विडंबना को जिस खूबी से कवि सामने रखता है वह व्यक्ति और सभ्यता के अंतरसंघर्ष को बखूबी सामने लाता है।

'धीरे-धीरे', 'अंतराल का डर', 'सामान की तरह' आदि कविताओं से गुजरने पर लगता है कि जैसे कवि एक समग्र दर्शन की तलाश में हो। पर जीवन की उलटवांसी हर घड़ी उसकी विचारधारा को बाधित करती है, वह शब्द पर रूकता है, तो अर्थ बीत जाता है, अर्थ पर टिकता है, तो शिल्प निराश करता है, और जब तक इस शिल्प से वह पार पाता जीवन में रस लेने की कोशिश करता है, उसे लगता है कि अरे यह जीवन तो अब बीतने को है, कि—

सामान की तरह
बैठे-बैठे किराया चढ़ गया है
उम्रों का।

क्या, इसका कोई हल हो सकता है, शायद हाँ, शायद नहीं। जीवन को उसकी

निरंतरता में देखने से शायद हल सूझ सकता है, कि एक कड़ी में हम हैं और जो पकड़ में आया है या जो जागा है वह मेरे ही साथ नष्ट नहीं हो रहा हम उसे अपनी कडी में पूरा कर अगली पीढी को सौंप रहे हैं। यह कोशिश अंतराल के उस डर को भी मिटा सकती है जो व्यक्ति को पल भर को शंका में डालती है। इसी कोशिश का एक नाम कविता भी है।

ऐसा नहीं है कि इस कोशिश की कवि को जानकारी नहीं है, बल्कि यह इस समय की बाधाएँ हैं, जो कवि की झिझक और शंका के आवरण में उसकी सहज उधमिता को बाधित करना चाहती हैं। 'मुझे जीने दो' कविता में कवि इससे पार भी पाता है और इस निष्कर्ष पर आता है कि सहज अभिव्यक्तियों के लिए उसे मशीनी जीवन से बाहर आना होगा। तब उसे वह आत्मीय रास्ता फिर कौंधेगा जिस पर चलकर वह कई बार अपने का घर का रास्ता भी भूल जाता था। तब वह किसी को गलती से रूला कर फिर उसके साथ खुद रो भी सकेगा। तब बेहिसाब लाशों के आंकडों में कोई एक मौत उसका जीना मुहाल कर सकेगी। यह सब वह कर पाता है, क्यों कि उसे अपना चेहरा खोकर मात्र एक नाम बनकर जीना मंजूर नहीं। हाँ, मजबूरियाँ भी हैं, जो उसकी इस पहचान को छीनना चाहती हैं पर कवि की जिद है कि यह चेहरा वह नहीं खोएगा, भले इसके लिए उसे खुद को थोडा छुपा कर आगे बढाना पडे। इस तरह खुद को बचाकर वह भविष्य की लडाई के लिए तैयार कर रहा है और वह जानता है कि—*ढूँढोगे तो संदर्भ भी मिल जाएँगे...*।

जीवन जगत के इन सवालों से जब कवि बाहर आता है तो अपने समय की दुरभिसंधियों पर तीखे व्यंग्य बाण भी चलाता है। 'तुम ये सब कैसे कर लेते हो' कविता में कवि ने हवा का रूख देख सफलता की सीढियां चढ़ने वालों पर अच्छा हमला किया है—

तुम कैसे जीतते हो
मेरा विश्वास
जबकि अपना तो तुम
अविश्वास भी नहीं बांटते ।

आम जीवन में व्यवस्था की दखलंदाजी को भी कवि जहाँ-तहाँ रेखाँकित करता है—

मेरी मिटटी
मेरी जुबान
मेरे बच्चें
मेरा घर, मेरा मकान
ये वीजा तय करेगा...।

अब विश्व व्यवस्था हो या स्थानीय व्यवस्था। उसके तौर तरीकों पर कवि अपना ऐतराज जताता है और कई दफे यह एतराज एक मुकम्ममल सवाल के रूप में सामने आता है। मरने पर शहादत के पत्थर लगवाने वाली व्यवस्था से कवि का सीध सवाल है—

जीते जी मैं इनको भाता क्यों नहीं
मैं सचमुच अपना भाग्य विधाता क्यों नहीं।

•

अनिर्णयों का अरण्य बनती हिंदी-कविता

आज जब अस्थिरता विश्व-संस्कृति का दर्शन बनती जा रही है, हिंदी की कविता इससे अछूती नहीं है। एक समय था, जब साहित्य राजनीति का मार्गदर्शक हुआ करता था। अब स्थिति उलट रही-सी लगती है। एक अनिर्णयों का अरण्य हम खुद रचे जा रहे हैं। बद्री, निलय, अंबुज, विमल कुमार आदि युवा कवि खुद को समय की इस मार से बचा नहीं पा रहे हैं। ये स्वयं को बचाव की मुद्रा में ला रहे हैं। ऐसे में श्रीकांत वर्मा के शब्दों में कहें तो वह अप्रासंगिक नहीं लगेगा कि– 'जो बचेगा वो कैसे रचेगा?' कुमार अंबुज व बद्री नारायण के संग्रहों से गुजरते हुए देखें कि वे भ्रम व सच कैसे हैं?

अंबुज के कविता-संग्रह 'किवाड़' की पहली कविता है, 'मेरे पास' और बद्री की पहली कविता है 'आस-पास' (आईस-पाईस), 'मेरे पास' संग्रह की सबसे महत्त्वपूर्ण कविता है। इसमें जीवन से संबद्ध कुछ मूलभूत प्रश्नों पर विचार किया गया है। वहाँ अस्तित्व के सवालों से जूझती एक टीस है, जो सच्ची है। यह कविता परंपरागत रूढ़ियों पर एक चोट है। यहाँ कवि शाप की तरह पीछा करते वरदानों से पीछा छुड़ाना चाहता है, पर यह वैचारिकता पूरे संग्रह में बरकरार नहीं रहती है। 'किवाड़' कविता में कवि खुद अपने टीलों की खुदाई में व्यस्त हो जाता है।

दूसरी ओर बद्री नारायण की कविताओं में घोड़ा, गदहा, बैल की चिंताएँ ज्यादा हैं, मनुष्य की कम। राजेश जोशी अपनी एक कविता में तंग आकर कहीं उड़ चलने की बात करते हैं, पर अब उसकी क्या जरूरत। आप चिंताओं को छूकर कह दें, आस-पास, चिंताएँ छूमंतर। यह तो वही हुआ कि जब डर लगे, तो अपनी आँखें बंद कर लें।

बद्री के यहाँ कुछ बहुत अच्छी व ज्यादातर कच्ची कविताएँ हैं। अंबुज के यहाँ मनुष्य और उसके अतीत-भविष्य से संबंधों का अंतरज्ञान है, पर कहीं परंपरा का मोह है, जो कुछ भ्रम में डाल देता है। पर बद्री के यहाँ ज्ञान का अभाव वस्तुस्थितियों से बच्चों-सा खिलंदड़ापन ज्यादा पैदा करता है। बद्री का निवेदन भी काफी भ्रमोत्पादक

है। यहाँ कवि अतीत से आत्मस्वीकार का निवेदन कर रहा है। भविष्य से उसको क्या लेना-देना।

खुद को कविता का डोम कहकर क्या कहना चाहता है कवि, ब्राह्मणों में एक जनेऊ-संस्कार होता है। उसके पूर्व वह जन्म से शूद्र माना जाता है, तो क्या कवि उसी ब्राह्मण परंपरा में जाने को बेचैन है। वेद-पुराण के रचयिता वेदव्यास तो शूद्र थे। क्या कवि उनकी पाँत से उठकर अब वेदुआ मतलब वेदों के भाष्यकार और पुरोहितों की पंक्ति में जाना चाहता है। हालाँकि वे निर्दयी हैं, उन्होंने कभी तुलसी को मलेच्छ कहा था। पर आगे अपनी परंपरा में शामिल कर लिया था। लगता है कवि उसी आशा से यह नम्र निवेदन कर रहा है।

शमशेर लिखते हैं कि सच्चाइयाँ गंगा के गोमुख से मोती की तरह झरती रहती हैं, या, सच्चाइयाँ बहुत गहरी नींवों में जम रही हैं। मतलब सत्य एक समय सापेक्ष वस्तु है। हमेशा इसके अन्वेषण की जरूरत पड़ती है। इस मोती को ढूँढना पड़ता है। सच, खबरों-सा रोज सुनाई या दिखाई पड़ने की चीज नहीं है शायद। यह वह मोती है, जिसे गहरे पैठ ढूँढना पड़ता है।

यह अनमोल स्थायित्व क्या है? यह स्थिरता जड़ता है या कोई अखंड, सनातन सत्य। उसे कवि अपने भीतर नहीं, पाताल में छुपाना चाहता है। ऐसे अमूर्त सवालों के जवाब तो पुरखे ही दे सकते हैं। प्रेम-पत्र, हिंस्र आत्माएँ पहचान ली जाती हैं, मत होना उदास, धूप चाम और निरघिण राम, सप्तर्षि आदि संग्रह की महत्त्वपूर्ण कविताएँ हैं।

हंस, दूध का दूध, पानी का पानी नहीं करता। अब पाठक ही बताएँ कि क्या करें हम, इन उलटबांसियों का, जो एक ही संग्रह में स्थित हैं। हम अतीत की ओर खुलते किवाड़ों से ताक-झाँक करें या अपनी सभ्यता को टीलों में तब्दील होने से बचाएँ। हंस पर हम विश्वास करें कि नहीं। यह किंकर्तव्यविमूढ़ता आज कविता का दर्शन बनती जा रही है और अकर्मण्यता उसकी मुख्य मुद्रा।

बद्री की कविता रूढ़िगत पारंपरिक संस्कारों की रचना और पुनर्रचना का अच्छा उदाहरण है। जहाँ वह संस्कारों की पुनर्रचना करती नजर आती है, वहाँ रचना परंपरा को अतिक्रमित करती पुनर्रचित होती है। पर जहाँ स्मृतियों को ज्यों का त्यों रख दिया जाता है, वहाँ कवि अक्सर अपनी कमजोरी को भाषिक चमत्कारों के भ्रम से ढँक देना चाहता है।

आज के छल-छद्म-भरे जीवन में भक्तिन-सा सादा चरित्र जीवित नहीं है। जहाँ वह जीवित है, वहाँ वह भक्तिन नहीं है। फिर कवि सूरज से खेतों में श्रम करते हुए पुट्ठे में उगने को कहता है। पर इतने से उसे संतोष नहीं है। वह उसे तमगा बना हर माथे पर चिपक जाने को कहता है। तमगा एक सामंती प्रतीक है, यहीं परंपरा कवि की चेतना को रूढ़ बना देती है। कलसूप, काँच, घनद, तमगा,

दियरी आदि शब्द कविता में ठेठियत की जगह भावुकता पैदा करते हैं। जैसे कोई अतीत की प्रेमिका को याद कर उस जमाने के शेर पढ़ रहा हो। शेर तो वजनी हैं, पर जमाना उसके लायक नहीं रहा। आज शमशेर हो चुके हैं।

'मत होना उदास' स्मृतियों की पुनर्रचना का बेहतर उदाहरण है। इसमें जून, जुलाई, नदी, पहाड़ सब मिलकर मूँज की रस्सी बुनते हैं। तब रस्सी में इतनी ताकत आ जाती है कि उससे प्रभु की प्रभुता बांधी जाती है, हाथी का बल बाँधा जाता है, सोने-चाँदी का छल बाँधा जाता है और बाँधा जाता है विषधर का विष। कवि को विश्वास है इस पर। वह रीति को चुप रहने को कहता है, वह नीति को कहता है कि वह उदास न हो। पर इस विश्वास को कवि खुद खारिज कर देता है दूसरी कविता में।

यहीं पर कवि की स्वालंबनहीनता समय के दबावों को बखूबी दर्शाती है। इस दबाव में भटककर उस पर एक फितूर सवार होता है कबूतर पालने का। वह हिटलरों से लड़ेगा नहीं, जब वह मारा जाएगा, उसके कब्रिस्तान में कबूतर पालेगा, उसकी आत्म की शांति के लिए। सुकरात के मरणोपरांत वह विष की कटोरी में कबूतर पालेगा। आवाज़ में मिसरी घोलने वाले कबूतर। कवि का विश्वास है कि साम्राज्यवाद-पूँजीवाद का जाल उसके प्रेम की पाती ढोने वाले जातक कथाओं के कबूतर लेकर उड़ जाएँगे। कबूतर न हुए सर्वशुद्धिकारक मंत्र हो गए।

अंबुज के यहाँ भय है, तो उसे भेदने की इच्छा भी है। बद्री सा चमत्कारी रचना शिल्प चाहे अंबुज के पास न हो, वैसी आत्महीनता भी नहीं है। यहाँ एक निरंतरता जीवन से एक गहरा लगाव साफ नजर आता है, जो एक विश्वास पैदा करता है। भाषा की सरलता, जीवन की जटिलताएँ व जिजीविषा का स्वर इनमें साथ-साथ देखा जा सकता है।

अंततः ये कविताएँ समय के आतंक को बखूबी सामने ला रही हैं। बद्री, अंबुज व अन्य कवि इससे जूझ रहे हैं। टूट रहे हैं। टूटना बुरा नहीं है। मुक्तिबोध भी टूटे थे। पर बचाव के लिए समझौते करते जाना बुरा है। या बुरा है टूटकर अपनी आवाज बदल डालना। टूटकर बिखर जाना जर्रों में बुरा नहीं है। अगर जर्रों का स्वर नहीं बदला, तो समय की आग उसे गलाकर पुनः एक कर देगी। पर अगर उनका स्वर बदल गया, वे शीशे की तरह नहीं, जल की तरह टूटे व गैसों में बदल गए, तो फिर उनका अस्तित्व कहाँ रहेगा।

•

'अँधेरे में' की पुनर्रचना

सड़क पर चप्पा खाकर मर जाने वाले पिल्ले
मुझे आदमी से ज्यादा इन्कलाबी लगते हैं।
...उनके हिसाब में
कम से कम
क्यूबा या वियतनाम तो नहीं है (सूर्यग्रहण, 68)

तीस वर्ष पूर्व मनुष्यता पर की गई इस उग्र टिप्पणी पर ध्यान दें, आज बहुत फर्क आया है क्या? आज आदमी मंगल पर जा चुका है। चाँद पर उसने पानी का पता लगा लिया है, अंतरिक्ष में वह लगातार छलाँगें लगा रहा है। पर इस धरती पर वह डग-भर भी आगे बढ़ पा रहा है क्या? क्यूबा की जगह आज इराक है; श्रीलंका है। बिहार में ही बथानी, बाथे हैं जहाँ छह माह के बच्चे मध्ययुग की तरह हथियारों की नोक पर टाँगे जा रहे हैं, ऐसे में कोई कहाँ तक 'भाषा में आदमी होने की तमीज' लाए। वह कुमारेंद्र की तरह क्यों नहीं बौखलाए—

कविता
घेराव में
किसी बौखलाए हुए आदमी का
संक्षिप्त एकालाप है।

क्यों नहीं वह आदमी और कुत्तों-भेड़ियों का फर्क मिटा दे। यहाँ 19वीं सदी के अमेरिकी दार्शनिक थोरो का कहना कितना सरल लगता है— 'मेरा विचार है कि आदमी अपने पशुओं का उतना स्वामी नहीं होता जितना पशु उसके स्वामी बन जाते हैं और आदमी की अपेक्षा वे कहीं अधिक स्वतंत्र होते हैं।' हाँ, आदमी अपने अंदर के पशु का गुलाम तो है ही, तभी तो बराबर हिंसा और आत्महिंसा का ग्राफ ऊपर बढ़ता जा रहा है।

ऐसा इसलिए है कि जैसे-जैसे मानुष जमात बढ़ती जा रही है वह अपनी रीढ़ खोती जा रही है और (काफ्का के नायक) तिलचट्टे की शक्ल लेती जा रही है। उसका सत्ता-व्यवस्था पर आश्रित होना बढ़ता जा रहा है। वह यह उक्ति भूलता जा

रहा है कि अच्छा शासन वह है, जो सबसे कम शासन करता है, पर परावलंबी होते समाज में आज हर संज्ञा-सर्वनाम-विशेषण व्यवस्था के चारों ओर घूमने लगते हैं और व्यवस्था है सत्ता है, कि अपनी दृष्टि खो चुकी है—

आप! जो सत्ता हाथ में लेने के लिए
अपनी आँखें निकलवा चुके हैं
(या)
अकेले में
आप खुद से घबराकर
अपना गला घोंटना चाहते हैं।

क्योंकि सार्वजनिक रूप से आप बराबर मनुष्यता के गले पर अपना फँदा कसते रहते हैं। आदमी की इस आत्महंता गुत्थी को सूर्यग्रहण के बीस वर्ष बाद 'मंदिर लेन' में लीलाधर जगूड़ी ज्यादा साफ करते हैं—

और दोस्तो मरने पर याद आया...
इस तरह आत्महत्या ने
मुझे आदर्श और न्याय की इच्छा से काट दिया।

हमारी आत्महंता आस्था, जिसे हम दूसरी तरह से हत्यारी आस्था भी कह सकते हैं मर्यादा पुरुषोत्तम के जमाने से ही चली आ रही है। सीता को व्यवस्था के दबाव में वन भेजकर राम आत्महत्या की राह तलाशते रहे और सरयू में जल समाधि ले ली। राम को वन भेज दशरथ ने भी प्राण त्यागे थे। देखें, तो ये लोग व्यवस्था और सत्ता के दबाव में, जो कि जितनी प्रत्यक्ष होती है उतनी ही अप्रत्यक्ष भी, पहले ही खुद को मार चुके थे। आत्महत्या ने उन्हें न्याय की इच्छा से काट दिया था (जगूड़ी)। तभी तो राम और सीता के साथ वे अन्याय कर सके और इस तरह आत्महत्या और हत्या की एक परंपरा चालू कर दी, जो आज तक जारी है, जो हर समस्या का हल हत्या या आत्महत्या में ढूँढती है। आरक्षण का मसला हो या कपास की खेती खराब होने पर किसानों की आत्महत्या का। आत्महत्या की प्रतिहिंसा में डूबे समाज की परस्पर की हिंसक अभिव्यक्तियाँ हैं ये।

'इतिहास का संवाद' की अधिकतर कविताओं की तरह 'सूर्यग्रहण' एक संवाद भी है। इतिहास के तमाम जेनेटिक कोडों को छिपाए चलते स्व से साक्षात्कार की कविता है यह। इसमें 'तुम' भी कवि है और 'मैं' भी—

तुम हमेशा
अपनी घड़ी को ठीक किए रहने में
लगे रहते हो
और मैं बताऊँ

अब मैं घड़ी के हिसाब से
जीने के विरुद्ध जेहाद करने लगा हूँ

हिन्दी कविता में आत्मालोचना का इतना तीखा स्वर मुक्तिबोध के बाद ऐसी सफाई से कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह में ही मिलता है—

इसलिए
एक बात साफ है—
कल कोई युद्ध नहीं होगा
आदमी तंग आकर अपना आईना तोड़ देगा।
और जो उससे भी चैन नहीं मिला
जाकर जानवरों के बीच रहना शुरू कर देगा—
फिर से कोई नई भाषा सीखेगा

थोरो का भी जीवन-दर्शन यही था, जिससे गाँधी ने काफी कुछ सीखा था। एकदम नए कवियों में निलय उपाध्याय को भी इस अंतर्धारा की पहचान है जो मनुष्य को मनुष्य के विरुद्ध खड़ा करने वाले तमाम औजारों को खारिज करता है। निलय लिखते हैं—

यह पम्प बहुत फट-फट करता है
मनबोध बाबू
हमें बात नहीं करने देगा यह

अपने समय की तमाम विभीषिकाओं की बहुत साफ पहचान है कुमारेंद्र में इसलिए उनका एकालाप भी या तो बहुत उग्र है या फिर बुदबुदाहट है।

मैं कविताएँ लिखता नहीं
बुदबुदाता हूँ गालियाँ

श्रीकांत वर्मा ने भी लिखा है पर वर्मा जी कभी उग्र नहीं होते। शायद उन्हें अपने समय की पहचान थी। इस सभ्यता के हत्यारेपन को वे रघुवीर सहाय की तरह पहचानते थे— ...भड़ककर जो उग्र हो उसे मार देती है। पर श्रीकांत वर्मा लड़नेवाले कवियों में नहीं थे, वे साफ करते हैं— मौत से डरो। हाँ डरने का मतलब वहाँ भागने से नहीं था। वे बचना नहीं चाहते थे हस्तक्षेप से। लड़ाई का अतिवादी तरीका उन्हें पसंद नहीं था। लोकतांत्रिक हस्तक्षेप तक सीमित थे वो। क्योंकि उन्हें कुछ रचना था— जो बचेगा वो कैसे रचेगा...। पर यह बचना रचना के लिए था। परिवेश की पुनर्रचना के लिए संघर्ष नहीं था यह। कुमारेंद्र की तरह जानवरों से फिर से कुछ सीखने की इच्छाशक्ति नहीं होती सबमें। इसलिए सबके पास हल नहीं होता। हत्यारी सत्ता के सामने जब असहाय पड़ते हैं कुमारेंद्र तो उनकी उग्रता बुदबुदाहट में बदल जाती है। यह लाचारी नहीं, भय को ताकत में बदल डालने की कला है—

उसे कोई भय नहीं

कि उसे मालूम है, लोग सिर्फ चिल्लाते हैं
अपना चिल्लाना

यहाँ कुमारेंद्र की इस सर्द बुदबुदाहट में, भविष्य में और मजबूत होती सत्ता की पहचान छिपी है। कुमारेंद्र के बीस साल बाद 'मंदिर लेन' में जगूड़ी लिखते हैं—

...मौत ही है न्याय इसलिए जब भी मौका मिले न्याय करना है

पर जब अँधेरे का बढ़ता हुआ हाथ उनका दुःस्वप्न हो जाता है और उन्हें जीने नहीं देता तब वे बोखला जाते हैं और धूमिल की तरह खोलकर लिखने लगते हैं एक नंगी भाषा। जो या तो आपकी आँखें बंद कर देती है या आप उसे ढकने का कुछ उपाय करते हैं—

जब किसी कुत्ते को भौंकते हुए सुनता हूँ मेरे सामने
दंगाइयों का हुजूम उमड़ पड़ता है
या
एक जमाने से
मर्द उसे नंगी करके नचाता रहता है
...उसकी नामर्दी दूर नहीं हुई है

माइकल जैक्सन की दीवानी पीढ़ी इसका उदाहरण है। इस एकालाप में चाहे वह उग्र हो या बुदबुदाहट हो, शब्द अपनी कलई उतार देते हैं। फिर फार्म की समस्या नहीं रहती। बस बात रह जाती है। शमशेर के शब्दों में कहें तो वह बोलती है। और यह सब चेतना के स्तर पर होता है और कवि—

खिलौने की तरह बनते-बिगड़ते आदमी की सूरत से उलझने लगता है
और फिर कविता
या कहानी की कोई संभावना नहीं रह जाती है

इस सबके बावजूद संभावनाओं का अंत वे नई पीढ़ी के लिए नहीं करते। उसके लिए उनका संदेश साफ है—

धरती के लिए
पाताल तोड़कर
जल निकालना होगा
खून से उसकी प्यास नहीं मिटती
और आसमान की नीली गहराइयों के पास
धरती के पेड़-पौधों की जिज्ञासा का
कोई उत्तर नहीं
उत्तर उन्हें स्वयं बनना होगा

मुक्तिबोध ने भी लिखा था—

ए इंसानो ओस न चाटो पर्वत काटो

पथ की नदियाँ खींच निकालो
जीवन जीकर प्यास बुझा लो
रोटी तुमको राम न देगा
वेद तुम्हारा काम न देगा

कितना साम्य है यहाँ। राम और वेद ही कुमार के यहाँ आसमान हो गए हैं। और आज की तारीख में जैसे ये पगडंडियाँ हों भविष्य की। आज जब धरती नरसंहारों से पट रही है, खून से उसकी प्यास बुझाने की कोशिशें चरम पर हैं। मुट्ठी भर अन्न के बदले सोमालिया में मुट्ठी भर गोलियाँ मिल रही हैं। पर सत्ता जो है वह चाँद और मंगल पर पानी ढूँढ रही है धरती का ईधन जलाकर। और जनता यह सोचकर गफलत में पड़ जा रही है कि इस धरती पर नहीं, शायद चाँद पर ही कुछ मिले। भारतीय मानस का स्वर्ग है वह चाँद-मंगल। जिस पर पानी की खोज के चमत्कार की कोशिशें की जा रही हैं, पर चमत्कारों से कहीं पेट भरता है। कुमारेंद्र ने अगर किसी कवि का सर्वाधिक प्रभाव ग्रहण किया है तो वह हैं मुक्तिबोध। 'सूर्यग्रहण' एक तरह से 'अँधेरे में' की पुनर्रचना है। शीर्षक का साम्य भी ध्यान देने लायक है। कुमारेंद्र भी अँधेरे को नियति नहीं मानते। वे बतलाते हैं कि सूर्य को ग्रहण लगा है पर यह अँधेरा टिकाऊ नहीं है। ग्रहणों का अंत होता है और कविता भी इसी विश्वास के साथ समाप्त होती है—

...मैं समझता हूँ
अँधेरे का अंत समीप है।

कविता का शीर्षक ही नहीं, उसका अंत भी 'अँधेरे में' के अंत के समीप है—

इसीलिए मैं हर गली में
और हर सड़क पर
...वह हर एक आत्मा का इतिहास
...जहाँ मिल सके— आत्मसंभवा।

मुक्तिबोध की बाबत कुमारेंद्र लिखते भी हैं— 'मुक्तिबोध के सामने संप्रेषण का जो सवाल रहा है, और जिस सवाल से आजीवन जूझते हुए वे अंत तक दुरूह ही बने रह जाते हैं, वह एक प्रक्रियागत संघर्ष का सवाल है।' मुक्तिबोध की दुरूहता को प्रक्रियागत संघर्ष के सवाल से जोड़कर देखते हैं कुमारेंद्र और अपने तईं उस दुरूहता से मुक्त होने की कोशिश तमाम कविताओं में करते हैं। कहीं-कहीं इस कोशिश में क्रांतिकारी रोमान भी उन पर हावी हो जाता है, पर जो चीज अंत तक उनसे नहीं छूटती, वह है बातों को एक सच्ची जिच में बेलाग कह जाने की आदत और यही उनका मूल स्वभाव है।

भविष्य के प्रति आशापूरित दृष्टि रखने के बावजूद पूरी कविता में 'अँधेरे में' की तरह वर्तमान की दुःस्थिति के प्रति एक निरंतर खीज मौजूद है और यह खीज

अक्सर उन्हें अतीत के गौरव तक ले जाती है। ऐसे में वे इतिहास से संवाद की कोशिश नहीं करते, बल्कि इतिहास के संवादों को सुनते हैं और वर्तमान से तुलना कर दुखी भी होते हैं—

समय इतना अकेला कभी नहीं पड़ा था
कभी नहीं हुई थी इतनी भयावह उसकी नींद

वे अतीत के गौरव को भी याद करते हैं। हालाँकि वे अतीत से संतुष्ट नहीं होते— तब वे समय पर विचार करते हैं। समय, इतिहास जिसका एक जाना जा सका खंड है और जिसका बड़ा भाग अजाना है और समय का यह कालविवर उन्हें ज्यादा परेशान करता है, जिसके सामने वे असहाय हो जाते हैं। पर मुक्तिबोध की तरह वे हाय-हाय नहीं करते, बल्कि समय को तोलने की, जानने की कोशिश करते हैं—

जाहिर है
कि समय का खाद्य बनने के लिए
कोई एक नेपोलियन...
काफी नहीं होता
उसकी आखिरी सीमा है
न्यायालयों
दरबारों
में खड़ा आदमी
जोकि जनता है

वे देखते हैं कि 'समय एक विराट कसाईखाना है' (मदन कश्यप), जिसका भविष्य महान लोग ही नहीं, आम जनता भी बनती है। पर वे जनता की स्थिति को पहचानने से नहीं चूकते कि वह बराबर सत्ता से बाहर कटघरे में रहती है, यहाँ वे इंगित करते हैं कि न्यायपालिका भी आम जन को हमेशा कटघरे में रखती है। क्योंकि वे भी सत्ता की लड़ाई में मजबूत के पक्ष में न्याय करते हैं और समय की क्रूरता और उसके समक्ष बौनी मनुष्यता की नियति को जब वे पहचानते हैं, तो एकबारगी सपाट हो जाते हैं। फिर वे कविता और कहानी की संभावना से इनकार करने लगते हैं।

समय के मुकाबिल उनके पास कोई जवाब नहीं है; हो भी नहीं सकता पर समय के भीतर वे अधिकांश बुराइयों के लिए बुर्जुवा संस्कृति को दोषी मानते हैं।

•••